पाश्चात्य काव्य परम्परा

(Western Poetry Tradition)

जशवंत सिंह

पाश्चात्य काव्य परंपरा

पाश्चात्य काव्य परंपरा
(Western Poetry Tradition)

जशवंत सिंह

भाषा प्रकाशन
नई दिल्ली - 110002

© प्रकाशक

I.S.B.N. : 978-81-323-5571-7

प्रथम संस्करण : 2021

भाषा प्रकाशन

22, प्रकाशदीप बिल्डिंग, अंसारी रोड,
दरियागंज, नई दिल्ली - 110002

द्वारा वर्ल्ड टेक्नोलॉजीज नई दिल्ली के सहयोग से प्रकाशित

प्रस्तावना

पाश्चात्य काव्यशास्त्र (वेस्टर्न पोएटिक्स) के उद्‌भव के साक्ष्य ईसा की आठ शताब्दी पूर्व से मिलने लगते हैं। होमर और हेसिओड जैसे महाकवियों के काव्य में पाश्चात्य काव्यशास्त्रीय चिंतन के प्रारम्भिक बिंदु मौजूद मिलते हैं। ईसापूर्व यूनान में वक्तृत्वशास्त्रियों का काफी महत्त्व था। समीक्षा की दृष्टि से उस समय की फ्रराग्स तथा क्लाउड्स जैसी कुछ नाट्यकृतियाँ काफी महत्त्वपूर्ण और उल्लेखनीय हैं। फ्रराग्स में कविता को लेकर यह प्रश्न किया गया है कि वह उत्कृष्ट क्यों मानी जाती है? काव्य समाज को उपयोगी प्रेरणा तथा मनोरंजन के कारण महत्त्वपूर्ण है या आनंद प्रदान करने तथा मनोरंजन के कारण? इस तरह से काव्यशास्त्रीय चिंतन-सूत्र यूनानी समाज में बहुत पहले मौजूद रहे। विधिवत् काव्य-समीक्षा की शुरुआत प्लेटो से हुई।

पुस्तक लेखन में कई लिखित व अलिखित स्रोतों से मदद ली गई है; मैं उन सभी विज्ञ लेखकों के प्रति अपना आभार प्रकट करता हूँ। आशा करता हूँ कि पुस्तक पाठकों के लिए उपयोगी होगी।

–लेखक

अनुक्रम

	प्रस्तावना	*v*
1.	**काव्यशास्त्र**	**1**
	प्राचीनता	2
	काव्य–सम्प्रदाय	7
2.	**पाश्चात्य काव्यशास्त्र**	**13**
	प्लेटो	13
	अरस्तू	14
	औदात्य–सिद्धान्त	15
	मध्ययुगीन समीक्षा	16
	पुनर्जागरण काल	16
	नव्यशास्त्रवाद	16
	स्वच्छंदतावाद	17
	यथार्थवाद	17
	कलावाद	17
3.	**प्लेटो**	**19**
	जीवनी	19
	काव्य के महत्त्व की स्वीकार्यता	20
	प्लेटो का जीवन परिचय एवं शिक्षा दर्शन	25

प्लेटो का जीवन-दर्शन 27
प्लेटो की अध्ययन शैली और पद्धति 29
प्लेटो का शिक्षा-दर्शन 32
शिक्षा का उद्देश्य 33
प्लेटो के शिक्षा दर्शन की सीमायें 37
प्लेटो का शिक्षा का सिद्धान्त 38
शिक्षा का महत्त्व 38
शिक्षा सिद्धान्त का दार्शनिक आधार 39
प्लेटो के साम्यवाद का सिद्धान्त 47
पत्नियों का साम्यवाद 53
पत्नियों के साम्यवाद के पक्ष में तर्क 54
असमानताएँ 56
4. रूसो **59**
रूसो की प्रमुख रचनायें 60
रूसो का सामाजिक दर्शन 61
रूसो का सिद्धांत 63
समझौते की विशेषताएँ 66
सामाजिक समझौता सिद्धान्त की आलोचनाएँ 69
सामान्य इच्छा की विशेषताएँ 75
रूसो का सम्प्रभुता का सिद्धान्त 81
सम्प्रभुता की विशेषताएँ 83
रूसो का शिक्षा दर्शन 84
शिक्षा का उद्देश्य 85
शिक्षक की भूमिका 91
5. अरस्तू **93**
जन्म 94
शिक्षा 94
प्लेटो के निधन के बाद 94
सिकंदर की शिक्षा 95
अरस्तू और दर्शन 95
अरस्तू का अनुकरण सिद्धांत 97

अनुकरण के महत्त्व के कारण 97
अरस्तू के व्याख्याकार 98
अनुकरण और आनन्द 101
अनुकरण की शक्ति और सीमाएँ 102
अरस्तू तथा उसका न्याय-दर्शन 103
जीवन परिचय 107
6 जेम्स मिल 128
परिचय 128
वैचारिकी 134
जेएस मिल और उनके राजनीतिक विचार 141
उपयोगितावाद का संशोधन 145
7. जेरेमी बेन्थम 152
जेरेमी बेंथम के बारे में 153
जैरेमी बैथम: सुखवादी विचारक 154

1

काव्यशास्त्र

काव्यशास्त्र काव्य और साहित्य का दर्शन तथा विज्ञान है। यह काव्यकृतियों के विश्लेषण के आधार पर समय-समय पर उद्‌भावित सिद्धान्तों की ज्ञानराशि है। काव्यशास्त्र के लिए पुराने नाम 'साहित्यशास्त्र' तथा 'अलंकारशास्त्र' हैं और साहित्य के व्यापक रचनात्मक वांग्मय को समेटने पर इसे 'समीक्षाशास्त्र' भी कहा जाने लगा। संस्कृत आलोचना के अनेक अभिधानों में अलंकारशास्त्र शास्त्र ही नितान्त लोकप्रिय अभिधान है। इसके प्राचीन नामों में 'क्रियाकलाप' (क्रिया काव्यग्रंथ, कल्प विधान) वात्स्यायन द्वारा निर्दिष्ट 64 कलाओं में से अन्यतम है। राजशेखर द्वारा उल्लिखित 'साहित्य विद्या' नामकरण काव्य की भारतीय कल्पना के ऊपर आश्रित है, परन्तु ये नामकरण प्रसिद्ध नहीं हो सके।

युगानुरूप परिस्थितियों के अनुसार काव्य और साहित्य का कथ्य और शिल्प बदलता रहता है, फलतः काव्यशास्त्रीय सिद्धान्तों में भी निरन्तर परिवर्तन होता रहा है। भारत में भरत के सिद्धान्तों से लेकर आज तक और पश्चिम में सुकरात और उसके शिष्य प्लेटो से लेकर अद्यतन 'नवआलोचना' (नियो-क्रिटिसिज्म) तक के सिद्धांतों के ऐतिहासिक अनुशीलन से यह बात साफ हो जाती है। भारत में काव्य नाटकादि कृतियों को 'लक्ष्य ग्रंथ' तथा सैद्धांतिक ग्रंथों को 'लक्षण ग्रंथ' कहा जाता है। ये लक्षण ग्रंथ सदा लक्ष्य ग्रंथ के पश्चाद्‌भावनी तथा अनुगामी है और महान् कवि इनकी लीक को चुनौती देते देखे जाते हैं।

मूलतः काव्यशास्त्रीय चिंतन शब्दकाव्य (महाकाव्य एवं मुक्तक) तथा दृश्यकाव्य (नाटक) के ही सम्बन्ध में सिद्धान्त स्थिर करता देखा जाता है। अरस्तू के 'पोयटिक्स' में कामेडी, ट्रैजेडी, तथा एपिक की समीक्षात्मक कसौटी का आकलन है और भरत का नाट्यशास्त्र केवल रूपक या दृश्यकाव्य की ही समीक्षा के सिद्धान्त प्रस्तुत करता है। भारत और पश्चिम में यह चिन्तन ई.पू. तीसरी चौथी शती से ही प्रौढ़ रूप में मिलने लगता है जो इस बात का परिचायक है कि काव्य के विषय में विचार विमर्श कई सदियों पहले ही शुरू हो चुका था।

'अलंकारशास्त्र' में अलंकार शब्द का प्रयोग व्यापक तथा संकीर्ण दोनों अर्थों में समझना चाहिए। अलंकार के दो अर्थ मान्य हैं –

(1) अलंक्रियते अनेन इति अलंकारः (काव्य में शोभा के आधायक उपमा, रूपक आदि, संकीर्ण अर्थ), (2) अलंक्रियते इति अलंकारः ('काव्य की शोभा', व्यापक अर्थ)।

व्यापक अर्थ स्वीकार करने पर अलंकारशास्त्र काव्यशोभा के आधाएक समस्त तत्त्वों – गुण, रीति, रस, वृत्ति ध्वनि आदि का विजाएक शास्त्र है जिसमें इन तत्त्वों के स्वरूप तथा महत्व का रुचिर विवरण प्रस्तुत किया गया है। संकीर्ण अर्थ में ग्रहण करने पर यह नाम अपने ऐतिहासिक महत्व को अभिव्यक्त करता है।

साहित्यशास्त्र के आरम्भिक युग में 'अलंकार' (उपमा, रूपक, अनुप्रास आदि) ही काव्य का सर्वस्व माना जाता था जिसके अभाव में काव्य उष्णताहीन अग्नि के समान निष्प्राण और निर्जीव होता है। 'अलंकार' के गंभीर विश्लेषण से एक ओर 'वक्रोक्ति' का तत्त्व उद्‌भूत हुआ और दूसरी ओर अर्थ की समीक्षा करने पर 'ध्वनि' के सिद्धान्त का स्पष्ट संकेत मिला। इसलिए रस, ध्वनि, गुण आदि काव्यतत्त्वों का प्रतिपादक होने पर भी, अलंकार प्राधान्य दृष्टि के कारण ही, आलोचनाशास्त्र का नाम 'अलंकारशास्त्र' पड़ा और वह लोकप्रिय भी हुआ।

प्राचीनता

अलंकारों की, विशेषतः उपमा, रूपक, स्वाभावोक्ति तथा अतिशयोक्ति की, उपलब्धि ऋग्वेद के मंत्रों में निश्चित रूप से होती है, परन्तु वैदिक युग में इस शास्त्र के आविर्भाव का प्रमाण नहीं मिलता। निरुक्त के अनुशीलन से 'उपमा' का साहित्यिक विश्लेषण यास्क से पूर्ववर्ती युग की आलोचना की

परिणत फल प्रतीत होता है। यास्क ने किसी प्राचीन आचार्य के उपमालक्षण का निर्देश ही नहीं किया है, प्रत्युत कर्मोपमा, भूतोपमा, रूपोपमा, सिद्धोपमा, अर्थोपमा (लुप्तोपमा) जैसे मौलिक उपमा-प्रकारों का भी दृष्टांतपुररूसर वर्णन किया है। इससे स्पष्ट है कि अलंकार का उदय यास्क (सप्तम शती ई.पू.) से भी पूर्व हो चुका था। काश्यप तथा वररुचि, ब्रह्मदत्त तथा नंदिस्वामी के नाम तरुणवाचस्पति ने आद्य आलंकारिकों में अवश्य लिए हैं परंतु इनके ग्रंथ और मत का परिचय नहीं चिंतकों के दो दल हैं—परंपरावादी चिंतक काव्य का लक्ष्य या प्रयोजन नैतिक उपदेश की प्रतिष्ठा मानते हैं। काव्य द्वारा कवि किन्ही मूल्यों की स्थापना करना चाहता है, ठीक उसी तरह जैसे धार्मिक उपदेशक। किन्तु फर्क यह है कि उसकी कृति शैलीशिल्प की दृष्टि से रमणीय और रसमय होने के कारण धर्मग्रंथों या नीतिग्रंथों से विशिष्ट बन जाती है। स्वच्छंदतावादी चिंतक इसे नहीं स्वीकारता। वह कवि को उपदेशक नहीं मानता। उसके अनुसार कवि सर्जक है, सृष्टिकर्ता है, जो ब्रह्मा से भी विशिष्ट है। वह अपनी सृष्टि, अपनी कलाकृति के माध्यम से हमारे सामने रखता है। वस्तुतः वह अपनी अनुभूतियों को काव्य के द्वारा वाणी देना चाहता है। काव्य और कुछ नहीं, उसकी समस्त अनुभूतियों का सारभत तत्त्व और उसके अंतस्थ में उमड़ते-घुमड़ते भावों का स्वतः बहा हुआ परिवाह मात्रा है। पूर्व और पश्चिम के प्रायः सभी मतमतांतर इन दो खेवों में मजे से समेटे जा सकते हैं।

काव्य का सबसे महत्त्वपूर्ण पक्ष वह कृति है, जो हमारे समक्ष चाक्षुष (नाटक में), श्रावण तथा बौद्धिक सन्निकर्ष का माध्यम बनती है और इस माध्यम से वह हमारे मन या संवित (चेतना) को प्रभावित करती है। अतः काव्यशास्त्रीय चिंतन में यह वह प्रधान पक्ष है जिसके अनेक पहलुओं को लेकर पूर्व और पश्चिम के विचारक पिछले अढ़ाई हजार वर्षो से ऊहापोह करते आ रहे हैं। सबसे पहला सवाल जो काव्य के कथ्य के विषय में उठता है, वह यह है कि काव्य में वर्णित घटनाएँ आदि कहाँ तक वैज्ञानिक सत्य से मेल खाती हैं। यह प्रायः सभी समीक्षक स्वीकार करते हैं कि काव्य में तथ्य-कथन-प्रणाली का आश्रय नहीं लिया जाता। उसमें जिस सत्य का समुद्घाटन होता है, वह वास्तविक सत्य न होकर संभाव्य सत्य होता है। इसी आधार पर काव्यविरोधी कवि की कल्पना को भ्रमित या सत्य से बहुत दूर घोषित करते हैं। प्लेटो ने तो इसे सत्य से 'दुहरा दूर' सिद्ध किया है। भारत के विचारकों ने काव्यकृति को भ्रान्ति नहीं माना हैं, यद्यपि एक स्थान पर भट्ट लोल्लट ने रससूत्र की व्याख्या

करते हुए नाटक के अभिनय में राम आदि का अनुकरण करते नटों में राम आदि के भ्रांतिज्ञान का संकेत किया है। पश्चिम में इधर मनोविज्ञान के विकास के परिप्रेक्ष्य में काव्यशास्त्रीय चिंतन ने भ्रांतिवाले इस पक्ष को और अधिक मजबूत किया है। कहा जाता है, कला मात्र भ्रांति है (आर्ट इज नथिंग बट इल्यूजन)। इसी से मिलता जुलता एक और मत भी है। कला कुछ नहीं महज सम्मोहन है (आर्ट इज नथिंग बट हेल्यूसिनेशन)। इधर नृतत्त्व विज्ञान के अध्ययन के आधार पर भी काव्य की सम्मोहिनी शक्ति पर जोर दिया जाने लगा है और यह मत प्रबल हो उठा है कि काव्य या कला में पुराने आदिम समाज के ओझाओं के मंत्रों की तरह जादुई असर होता है (आर्ट इज मैजिक)।

यहीं यह सवाल उठता है कि आखिर यह भ्रान्ति, सम्मोहन या जादुई असर, अगर हम पुराने विद्वानों के शब्द को उधार लेना चाहें तो काव्य का 'चमत्कार', किन तत्त्वों के कारण पैदा होता है? काव्य मूलतः भाषा में निबद्ध होता है। भाषा शब्द और अर्थ का संश्लिष्ट रूप है। अतः पहला सवाल यह उठेगा कि काव्य केवल शब्दमय है या शब्दार्थमय। भारत में ये दोनों मत प्रचलित हैं। भामह, कुन्तक, मम्मट जैसे चिंतक शब्द और अर्थ के सम्मिलित तत्त्व को काव्य मानते हैं, केवल शब्द को या केवल अर्थ को नहीं, क्योंकि काव्य में दोनों को एक दूसरे से अलग नहीं किया जा सकता। इस मत के अनुसार काव्य को चमत्कारशाली या सम्मोहक बनाने के लिए शब्द और अर्थ दोनों की रमणीयता पर कवि को समान बल देना होगा। दूसरा मत काव्य की प्रभावान्विति में शब्द पर, अर्थात् उसके बौद्धिक पक्ष की अपेक्षा श्रवण पक्ष पर, अधिक जोर देता है। प्रसिद्ध संस्कृत कवि पंडितराज जगन्नाथ का यही मत है। यह मत उन लोगों का जान पड़ता है जो काव्य की लय (रिद्म), शब्दचयन, छन्द और श्रावण बिंबवत्ता पर अधिक जोर देते हैं। पश्चिम के स्वच्छंदतावादी समीक्षक, विशेषतः फ्रांस के प्रतीकवादी कवि और आलोचक, साफ कहते हैं कि काव्य अर्थ या विचार से नहीं बनता बल्कि शब्दों से बनता है (पोयट्री इज नाट मेड ऑव आइडियाज बट ऑव वर्ड्स)। अगर इस मत की तुलना हम ओझाओं के निरर्थक शाबरजाल मंत्रों से करें तो पता चलेगा कि यहाँ भी अर्थ का कोई महत्व नहीं, अपितु शब्दों की लय, झाड़ फूँक करनेवाले ओझा के मंत्रोच्चार का लहजा ही रोगी को प्रभावित कर मनश्चिकित्सा करता कहा जाता है। यही पद्धति मनोविश्लेषणात्मक उपचार की भी है।

काव्य के प्रभाव को पैदा करने में शब्द और अर्थ का विशेष महत्व माना गया है, इसलिए काव्यशास्त्रीय चिंतन में शब्द और अर्थ के परस्पर सम्बन्ध पर

विचार करना लाजमी हो जाता है। शब्द का अपने परम्परागत अर्थ से नियत सम्बन्ध होता है। इस संबंध को हमारे यहाँ अभिधा व्यापार कहा गया हैं। किन्तु भाषा में इस व्यापार के अतिरिक्त अन्य व्यापार भी कार्य करता देखा जाता है, जहाँ शब्द अपने नियत अर्थ को छोड़कर उससे सम्बद्ध किसी दूसरे अर्थ की प्रतीति भी करा सकता है, जिसे लक्षणा व्यापार कहते हैं। अरस्तू ने भी भाषा के इन दोनों व्यापारों का विवेचन अपने प्रसिद्ध ग्रंथ 'रिटोरिक्स' में किया है। काव्यभाषा में वस्तुतः शब्द अभिधापरक न होकर लाक्षणिक होते हैं। इस बात पर इधर पश्चिम में अधिकाधिक जोर दिया जाने लगा है और इसकी शुरूआत स्वच्छन्दतावादी कवि और विचारक कॉलरिज ने की थी। उसके अनुसार समस्त काव्यभाषा लाक्षणिक (मेटाफरिक) है। यह मत आई.ए.रिचर्ड्स, एम्पसन आदि अन्य आधुनिक काव्यचिंतकों ने भी स्वीकार किया है। इस मत के अनुसार काव्य में उपात्त बिंब, रूपक, प्रतीक और मिथक सभी भाषा की लाक्षाणिक प्रक्रियाएँ हैं और इतना ही नहीं, काव्य का छंदोविधान, लय और शब्दशय्या का प्रयोजन भी सर्वथा लाक्षणिक है। इस मत से मिलता-जुलता मत हमारे यहाँ ध्वनिवादी काव्यशास्त्री का है जो काव्यार्थप्रतीति में लक्षणा से भी एक कदम आगे बढ़कर व्यंजना की परिकल्पना करते हैं और काव्य के समस्त अवयवों को अनुभूति या रसरूप व्यंग्य का व्यंजक मानते हैं। उधर वक्रोक्तिवादी कुन्तक भी काव्य में उपात्त शब्द और अर्थ के व्यापार को साधारण अभिधा न मानकर विचित्राभिधा या वक्रोक्ति कहते हैं और इस वक्रोक्ति का विनियोग वर्ण, पद, वाक्य, अर्थप्रकरण, प्रबंध जैसे काव्यांगों में निर्दिष्ट करते हैं। कुंतक के इस विभाजन की मूल नीव वस्तुतः वामन के रीतिवादी सिद्धांत पर टिकी है। यह काव्य की संघटना या संरचना का विश्लेषण कर उसके उन अंगों के सम्मोहक तत्त्व को समुद्घाटित करती है जो काव्य सुनने या पढ़नेवाले को प्रभावित करते हैं। यह विश्लेषण एक ओर व्याकरण और भाषाशास्त्र से और दूसरी और कलाशास्त्रीय चिंतन से जुड़ा हुआ है। इधर अमरीका में जो संरचनावादी पद्धति की नई काव्यसमीक्षा चल पड़ी है, वह उसी दृष्टिकोण को लेकर चली जिसका सूत्रापात संस्कृत काव्यों के विवेचन के संबंध में हमारे यहाँ अपने-अपने ढंग से वामन, आनन्दवर्धन और कुन्तक कर चुके हैं।

निबन्ध की सीमा देखते हुए यहाँ काव्य के विभिन्न अंगों पर समय-समय पर हुए सभी विचारों का विवेचन करना संभव नहीं है। काव्य के मूलतः दो पक्ष हैं। एक है कथ्यपक्ष, जिसे हम विषयवस्तु के विशेष प्रकार के अभिधान में और

उससे अभिव्यक्त कलात्मक अनुभूति या रसादि की आंतरिक संवेदना में पाते हैं। दूसरा है काव्य का शैलीपक्ष जिसमें लय, छन्द, शब्दचयन, गुण और अलंकार की योजना का विवेचन होता है। इन तत्त्वों पर पूर्व और पश्चिम के विचारकों ने विस्तार से चिंतन किया है। किन्तु यहाँ इतना समझा लेना होगा कि काव्य की प्रभावान्विति समग्र होती है। ये सभी अवयव अपने अपने ढंग से उस समग्र प्रभावान्विति में योगदान करते देखे जाते हैं। हमारे यहाँ अलंकारवादी और रीतिवादी समीक्षक इस समग्र प्रभावान्वितिवाले मत को नहीं मानते। वे काव्य का सौंदर्य या चमत्कार शब्द अर्थ के अलंकार में या विशिष्ट पदरचना में मानते हैं, किंतु वक्रोक्तिवादी और ध्वनिवादी प्रभाव की दृष्टि से काव्य की समग्रता को लेकर चलते हैं, भले ही विश्लेषण की दृष्टि से वे भी उसके तत्त अंश की मीमांसा करते हों। पश्चिम में परंपरावादी समीक्षक इसी तरह काव्य की समग्रता को प्रभाव की दृष्टि से नहीं आँकते और काव्य में अलंकार (फिगर्स), उक्तिवैचित्र्य (विट्), दूरारूढ़ कल्पना (फैंसी) को महत्व देते देखे जाते हैं। वहाँ भी ईसा की दूसरी शती में एक ऐसा चिंतक हुआ है जिसने काव्य की इस समग्रता के सिद्धांत को प्रतिष्ठापित किया था। लोंगिनुस के उदात्त संबंधी सिद्धांत का मूल भाव यही है। पश्चिम के रोमैंटिक कवि और आलोचक भी काव्य का चमत्कार समग्रता में ही मानते हैं और कुछ ऐसी ही धारणा हिंदी के छायावादी और छायावादोत्तर आलोचकों की है। हमारे यहाँ अलंकार, रीति, वक्रोक्ति, रस, ध्वनि, औचित्य, चमत्कार जैसे विविध काव्यसिद्धांत जो चल पड़े थे, वे सब मूलतः काव्य का सौंदर्य किस अंश में है, इसी आधार पर हैं। इनका विशेष विवेचन यहाँ अनावश्यक होगा।

कवि और काव्य के बाद तीसरा तत्त्व काव्य का श्रोता या पाठक और नाटक का दर्शक है जिसे ध्वनिवादी के शब्दों में सहृदय कहा जाता है। सहृदय का अर्थ है समान हृदयवाला वह व्यक्ति जो काव्यानुशीलन के समय उसमें तन्मयीभूत होकर कवि के समान हृदयवाला बन जाए। उसकी यह समानहृदयता काव्य में वर्णित विशिष्ट पात्रादि या नायकादि से भी होती है। इस समानहृदयता को स्थापित करने के लिए भट्ट नायक ने साधारणीकरण व्यापार की कल्पना की थी जिसे अभिनवगुप्त ने भी मान लिया है। भारत के इन रसवादियों के अनुसार काव्यानुशीलक के मानस में राग द्वेषादि रूप रज और तम गुणों का तिरोभाव हो जाता है तथा सत्य के उद्रेक से मन को विश्रांति का अनुभव होता है। अभिनवगुप्त इस स्थिति को योगियों की समाधिस्थिति के समान मानते हैं।

पश्चिम में काव्य की आत्मा को रस जैसे तत्त्व के रूप में माननेवाला कोई सिद्धान्त उदित नहीं हुआ है किन्तु वहाँ 19वीं सदी में स्वच्छन्दतावाद के उदय के कारण यह सिद्धान्त विकसित हुआ है कि काव्य का श्रोता या पाठक कवि या कविवर्णित पात्र के साथ समानुभूति (एम्पैथी) या सहानुभूति (सिम्पैथी) का अनुभव करता है, जैसी हमें शेक्सपियर के हैमलेट या मैकबेथ के साथ तथा शैली के प्रॉमिथ्युस के साथ होती है।

अपने यहाँ, रसदशा तक हम कैसे पहुँचते हैं, इसका अपने ढंग से मनोवैज्ञानिक विश्लेषण अभिनवगुप्त के यहाँ मिलता है। पर वह ढाँचा मात्रा है। अभी हाल में हुए मनोविज्ञानगत शोधों के कारण इस पक्ष पर अधिक प्रकाश पड़ा है। मनोविज्ञान की एक विशेष शाखा, जिसमें शरीरक्रिया के आधार पर हमारे स्नायुकेंद्र के समुत्तेजन का अध्ययन किया जाता है और श्रावण, चाक्षुष, स्पार्शन, घ्राणज तथा रसनज बिंबों का अथवा उनकी कल्पना मात्रा का हमारे मस्तिष्क पर कैसे प्रभाव पड़ता है और उससे हमारा मानस कैसे आंदोलित होता है, इसपर खोजें हुई हैं और होती जा रही हैं जो काव्य और कलाकृति का काव्यनुशीलक पर कैसा, क्यों और कैसे प्रभाव पड़ता है, इसके विवेचन में व्यस्त हैं।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट होगा कि आज काव्यशास्त्रीय चिंतन का क्षेत्र कितना विस्तृत हो गया है। वह एक ओर व्याकरण, भाषाशास्त्र, कलाशास्त्र, दर्शन और छन्दशास्त्र के छोरों को छूता है, तो दूसरी ओर मनोविज्ञान और शरीरक्रिया विज्ञान से भी जा जुड़ा है। इतना ही नहीं, जब हम काव्य के ऐतिहासिक, सामाजिक प्रेरणास्त्रोतों की ओर भी ध्यान देने लगते हैं तो काव्यशास्त्र का दायरा और बढ़ जाता है और वह समाजशास्त्र, इतिहास तथा राजनीतिक चिंतन से भी जा जुड़ता है। यही कारण है कि आज के काव्यशास्त्रीय चिन्तन में कई दृष्टिभंगिमाएँ मिलेंगी। कुछ ऐसी हैं जो परंपरावादी पूर्वी या पश्चिमी साँचे में ढली हैं, कुछ पश्चिम के स्वच्छंदतावादी, कलावादी, दादावादी, भविष्यवादी या अस्तित्त्ववादी सिद्धांतों से जुड़ी हैं और कुछ या तो फ्रायड के मनोविश्लेषणवाद अथवा मार्क्स के सामाजिक यथार्थवादी दर्शन से सम्बद्ध हैं।

काव्य-सम्प्रदाय

'अलंकारसर्वस्व' के टीकाकार समुद्रबन्ध ने काव्यशास्त्र के अनेक सम्प्रदायों की विशिष्टता की सुन्दर विवरण प्रस्तुत किया है। काव्य के विभिन्न

अंगों पर महत्व तथा बल देने से विभिन्न संप्रदायों की विभिन्न शताब्दियों में उत्पत्ति हुई। मुख्य सम्प्रदायों की संख्या छह मानी जा सकती है–

(1) रस सम्प्रदाय,
(2) अलंकार सम्प्रदाय,
(3) रीति या गुण सम्प्रदाय,
(4) वक्रोक्ति सम्प्रदाय,
(5) ध्वनि सम्प्रदाय,
(6) औचित्य सम्प्रदाय।

इन सम्प्रदायों ने अपने नाम के अनुसार तत्तत् 'काव्य की आत्मा' अर्थात् मुख्य प्राण स्वीकार किया है–

(1) रस संप्रदाय के के मुख्य आचार्य भरत मुनि हैं (द्वितीय शताब्दी) जिन्होंने नाट्यरस का ही मुख्यत: विश्लेषण किया और उस विवरण को अवान्तर आचार्यों ने काव्यरस के लिए भी प्रामाणिक माना।
(2) अलंकार संप्रदाय के प्रमुख आचार्य भामह (छठी शताब्दी का पूर्वार्ध), दंडी (सातवीं शताब्दी), उद्भट (आठवीं शताब्दी) तथा रुद्रट (नवीं शताब्दी का पूर्वार्ध) हैं। इस मत में अलंकार ही काव्य की आत्मा माना जाता है। इस शास्त्र के इतिहास में यही संप्रदाय प्राचीनतम तथा व्यापक प्रभावपूर्ण अंगीकृत किया जाता है।
(3) रीति संप्रदाय के प्रमुख आचार्य वामन (अष्टम शताब्दी का उत्तरार्ध) हैं जिन्होंने अपने 'काव्यालंकारसूत्रा' में रीति को स्पष्ट शब्दों में काव्य की आत्मा माना है (रीतिरात्मा काव्यस्य)। दण्डी ने भी रीति के उभय प्रकार-वैदर्भी तथा गौड़ी-की अपने 'काव्यादर्श' में बड़ी मार्मिक समीक्षा की थी, परन्तु उनकी दृष्टि में काव्य में अलंकार की ही प्रमुखता रहती है।
(4) वक्रोक्ति संप्रदाय की उद्भावना का श्रेय आचार्य कुन्तक को (10वीं शताब्दी का उत्तरार्ध) है जिन्होंने अपने 'वक्रोक्तिजीवित' में 'वक्रोक्ति' को काव्य की आत्मा (जीवित) स्वीकार किया है।
(5) ध्वनि संप्रदाय का प्रवर्तन आनन्दवर्धन (नवम शताब्दी का उत्तरार्ध) ने अपने युगान्तरकारी ग्रंथ 'ध्वन्यालोक' में किया तथा इसका प्रतिष्ठापन अभिनव गुप्त (10वीं शताब्दी) ने ध्वन्यालोक की लोचन टीका में किया। मम्मट (11वीं शताब्दी का उत्तरार्ध), रुय्यक (12वीं शताब्दी का

पूर्वार्ध), हेमचन्द्र (12वीं शताब्दी का उत्तरार्ध), पीयूषवर्ष जयदेव (13वीं शताब्दी का उत्तरार्ध), विश्वनाथ कविराज (14वीं शताब्दी का पूर्वार्ध), पंडितराज जगन्नाथ (17वीं शताब्दी का मध्यकाल)-इसी संप्रदाय के प्रतिष्ठित आचार्य हैं।

(6) औचित्य संप्रदाय के प्रतिष्ठाता क्षेमेन्द्र (11वीं शताब्दी का मध्यकाल) ने भरत, आनन्दवर्धन आदि प्राचीन आचार्यों के मत को ग्रहण कर काव्य में औचित्य तत्त्व को प्रमुख तत्त्व अंगीकार किया तथा इसे स्वतंत्र संप्रदाय के रूप में प्रतिष्ठित किया। अलंकारशास्त्र इस प्रकार लगभग दो सहस्र वर्षों से काव्यतत्त्वों की समीक्षा करता आ रहा है।

महत्व

यह शास्त्र अत्यन्त प्राचीन काल से काव्य की समीक्षा और काव्य की रचना में आलोचकों तथा कवियों का मार्गनिर्देश करता आया है। यह काव्य के अंतरंग और बहिरंग दोनों का विश्लेषण बड़ी मार्मिकता से प्रस्तुत करता है। समीक्षासंसार के लिए अलंकारशास्त्र की काव्यतत्त्वों की चार अत्यंत महत्वपूर्ण देन है जिनका सर्वांग विवेचन, अंतरंग परीक्षण तथा व्यावहारिक उपयोग भारतीय साहित्यिक मनीषियों ने बड़ी सूक्ष्मता से अनेक ग्रंथों में प्रतिपादित किया है। ये महनीय काव्य तत्त्व हैं-औचित्य, वक्रोक्ति, ध्वनि तथा रस।

औचित्य का तत्त्व लोक व्यवहार में और काव्यकला में नितांत व्यापक सिद्धांत है। औचित्य के आधार पर ही रसमीमांसा का प्रासाद खड़ा होता है। आनन्दवर्धन की यह उक्ति समीक्षाजगत् में मौलिक तथ्य का उपन्यास करती है कि अनौचित्य को छोड़कर रसभंग का कोई दूसरा कारण नहीं है और औचित्य का उपनिबंधन रस का रहस्यभूत उपनिषत् है-

अनौचित्यादृते नान्यत् रसभंगस्य कारणम।
औचित्योपनिधबंधस्तु रसस्योपनिषत् परा (ध्वन्यालोक)।

वक्रोक्ति लोकातिक्रांत गोचर वचन के विन्यास की साहित्यिक संज्ञा है। वक्रोक्ति के माहात्म्य से ही कोई भी उक्ति काव्य की रसपेशल सूक्ति के रूप में परिणत होती है। यूरोप में क्रोचे द्वारा निर्दिष्ट 'अभिव्यंजनावाद' (एक्सप्रेशनिज्म) वक्रोक्ति को बहुत कुछ स्पर्श करनेवाला काव्यतत्त्व है।

ध्वनि का तत्त्व संस्कृत आलोचना की तीसरी महती देन है। हमारे आलोचकों का कहना है कि काव्य उतना ही नहीं प्रकट करता जितना हमारे

कानों को प्रतीत होता है, प्रत्युत वह नितांत गूढ़ अर्थों को भी हमारे हृदय तक पहुँचाने की क्षमता रखता है। यह सुंदर मनोरम अर्थ 'व्यंजना' नामक एक विशिष्ट शब्दव्यापार के द्वारा प्रकट होता है और इस प्रकार व्यंजक शब्दार्थ को ध्वनिकाव्य के नाम से पुकारते हैं। सौभाग्य की बात है कि अंग्रेजी के मान्य आलोचक एबरक्रांबी तथा रिचर्ड्स की दृष्टि इस तत्त्व की ओर अभी-अभी आकृष्ट हुई है।

रसतत्त्व की मीमांसा भारतीय आलोचकों के मनोवैज्ञानिक समीक्षापद्धति के अनुशीलन का मनोरम फल है। काव्य अलौकिक आनंद के उन्मीलन में ही चरितार्थ होता है चाहे वह काव्य श्रव्य हो या दृश्य। हृदयपक्ष ही काव्य का कलापक्ष की अपेक्षा नितांत मधुरतर तथा शोभन पक्ष है, इस तथ्य पर भारतीय आलोचना का नितांत आग्रह है। भारतीय आलोचना जीवन की समस्या को सुलझाने वाले दर्शन की छानबीन से कथमपि परांमुख नहीं होती और इस प्रकार यह पाश्चात्य जगत् के तीन शास्त्रों- 'पोएटिक्स', 'रेटारिक्स' तथा 'ऐस्थेटिक्स'- का प्रतिनिधित्व अकेले ही अपने आप करती है। प्राचीनता, गंभीरता तथा मनोवैज्ञानिक विश्लेषण में यह पश्चिमी आलोचना से कहीं अधिक महत्वशाली है, इस विषय में दो मत नहीं हो सकते।

काव्य-लक्षण

काव्य, मनुष्य-चेतना की महत्तम सृष्टि है। काव्यशास्त्र में काव्य का विश्लेषण किया जाता है। काव्य का लक्षण निर्धारित करना ही काव्यशास्त्र का प्रयोजन है। लक्षण का अर्थ है, 'असाधारण अर्थ'। वस्तुतः कोई कृति साहित्यिक कृति है या नहीं, यह जानना आवश्यक है और इसी के लिए यह जानना आवश्यक हो जाता है कि साहित्यिक दृष्टिकोण क्या है या साहित्य (काव्य) क्या है, उसकी परिभाषा क्या है। दूसरे शब्दों में, काव्य का वह असाधारण धर्म क्या है जिसमें काव्य, 'काव्य' कहलाता है।

भारतीय काव्यशास्त्र में 'परिभाषा' को 'लक्षण' शब्द से अभिहित किया गया है। परिभाषा (लक्षण) के तीन दोष कहे जाते हैं- अव्याप्ति, अतिव्याप्ति और असम्भव। काव्य एवं काव्यांगों की परिभाषा करते समय सभी आचार्यों ने बड़े सजग होकर यह प्रयास किया है कि उनके द्वारा प्रतिपादित लक्षण अथवा सिद्धान्त निर्दोष हों। कुछ प्रमुख आचार्यों द्वारा प्रतिपादित 'लक्षण' निम्नलिखित हैं–

शब्दार्थौ सहितौ काव्यम् (शब्द और अर्थ का समन्वय काव्य है।) (भामह) ,

संक्षेपात् वाक्यमिष्टार्थव्यवच्छिन्ना, पदावली काव्यम् (अग्नि पुराण),

शरीरं तावदिष्टार्थव्यवच्छिन्ना पदावली (दंडी),

ननु शब्दार्थौ कायम् (रुद्रट),

काव्य शब्दोयं गुणलंकार संस्कृतयोः शब्दार्थयोर्वर्तते (आचार्य वामन),

शब्दार्थशरीरं तावत् काव्यम् (आनन्दवर्धन),

निर्दोषं गुणवत् काव्यं अलंकारैरलंकृतं रसान्तितम् (भोजराज),

तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलंकृती पुनः क्वापि (मम्मट),

गुणालंकाररीतिरससहितौ दोषरहिती शब्दार्थौ काव्यम् (वाग्भट),

निर्दोषा लक्षणवी सरीतिर्गुणभूषिता, सालंकाररसानेकवृत्तिर्भाक् काव्यशब्दभाक् (जयदेव),

काव्यं रसादिमद्वाक्यं श्रुतं सुखविशेषकृत् (आचार्य शौद्धोदनि),

वाक्यं रसात्मकं काव्यम् (विश्वनाथ),

गुणवदलंकृतंच काव्यम् (राजशेखर)।

काव्यशास्त्र से सम्बन्धित ग्रन्थ

नाट्यशास्त्र – भरतमुनि

काव्यप्रकाश – मम्मट

टीकाएँ

अलंकारसर्वस्व – रुय्यक

संकेत टीका – माणिक्यचंद्र सूरि (रचनाकाल 1160 ई.)

दीपिका – चंडीदास (13वीं शती)

काव्यप्रदीप – गोविंद ठक्कुर (14वीं शती का अंतभाग)

सुधासागर या सुबोधिनी – भीमसेन दीक्षित (रचनाकाल 1723 ई.)

दीपिका – जयंतभट्ट (रचनाकाल 1294 ई.)

काव्यप्रकाशदर्पण – विश्वनाथ कविराज (14वीं शती)

विस्तारिका – परमानंद चक्रवर्ती (14वीं शती)

साहित्यदर्पण – विश्वनाथ

काव्यादर्श – दण्डी

काव्यमीमांसा – कविराज राजशेखर (880-920 ई.)
दशरूपकम् – धनंजय
अवलोक – धनिक (धनंजय के लघु भ्राता)
ध्वन्यालोक – आनन्दवर्धन
लोचन – अभिनवगुप्त (ध्वन्यालोक की टीका)
काव्यप्रकाशसंकेत – माणिक्यचंद्र (1159 ई)
अलंकारसर्वस्व – राजानक रुय्यक
चंद्रालोक – जयदेव
अलंकारशेखर – केशव मिश्र

2

पाश्चात्य काव्यशास्त्र

पाश्चात्य काव्यशास्त्र (वेस्टर्न पोएटिक्स) के उद्‌भव के साक्ष्य ईसा के आठ शताब्दी पूर्व से मिलने लगते हैं। होमर और हेसिओड जैसे महाकवियों के काव्य में पाश्चात्य काव्यशास्त्रीय चिंतन के प्रारम्भिक बिंदु मौजूद मिलते हैं। ईसापूर्व यूनान में वक्तृत्वशास्त्रियों का काफी महत्त्व था। समीक्षा की दृष्टि से उस समय की फ्राग्स तथा क्लाउड्स जैसी कुछ नाट्यकृतियाँ काफी महत्त्वपूर्ण और उल्लेखनीय हैं। फ्राग्स में कविता को लेकर यह प्रश्न किया गया है कि वह उत्कृष्ट क्यों मानी जाती है? काव्य समाज को उपयोगी प्रेरणा तथा मनोरंजन के कारण महत्त्वपूर्ण हैं या आनंद प्रदान करने तथा मनोरंजन के कारण? इस तरह से काव्यशास्त्रीय चिंतन-सूत्र यूनानी समाज में बहुत पहले मौजूद रहे और विधिवत काव्य-समीक्षा की शुरुआत प्लेटो से हुई।

प्लेटो

प्लेटो ने काव्य की सामाजिक उपादेयता का सिद्धांत प्रतिपादित किया। उसके अनुसार काव्य को उदात्त मानव-मूल्यों का प्रसार करना चाहिए। देवताओं तथा वीरों की स्तुति एवं प्रशंसा काव्य का मुख्य विषय होना चाहिए। काव्य-चरित्र ऐसे होने चाहिए जिनका अनुकरण करके आदर्श नागरिकता प्राप्त की जा सके। प्लेटो ने जब अपने समय तक प्राप्त काव्य की समीक्षा की तो

उन्हें यह देख कर घोर निराशा हुई कि कविता कल्पना पर आधारित है। वह नागरिकों को उत्तमोत्तम प्रेरणा एवं विचार देने के बजाय दुर्बल बनाती है। प्लेटो के विचार से सुव्यवस्थित राज्य में कल्पनाप्रणव कवियों को रखना ठीक नहीं होगा, क्योंकि इस प्रकार के कलाकार झूठी भावात्मकता उभार कर व्यक्ति की तर्क-शक्ति कुंठित कर देते है जिससे भले-बुरे का विवेक समाप्त हो जाता है।

प्लेटो के कला और काव्य-संबंधी विवेचन से सौंदर्यशास्त्रीय एवं काव्यशास्त्रीय चिंतन में अनुकृति-सिद्धांत का समावेश हुआ। उनके अनुसार काव्य, साहित्य और कला जीवन और प्रकृति का किसी न किसी रूप में अनुकरण है। काव्य को कला का ही एक रूप मानने वाले प्लेटो के अनुसार कवि और कलाकार अनुकरण करते हुए मूल वस्तु या चरित्रों के बिम्बों और दृश्यों की प्रतिमूर्ति उपस्थित करते हैं। वे उस वस्तु या चरित्र की वास्तविकता का ज्ञान नहीं रखते। कलाओं और कविताओं को निम्न कोटि का मानने वाले प्लेटो अनुकरण के दो पक्ष मानते हैं– पहला जिसका अनुकरण किया जाता है और दूसरा अनुकरण का स्वरूप। अगर अनुकरण का तत्त्व मंगलकारी है और अनुकरण पूर्ण एवं उत्तम है तो वह स्वागत योग्य है। परंतु प्रायः अनुकृत्य वस्तु अमंगलकारी होती है तथा कभी-कभी मगंलकारी वस्तु का अनुकरण अधूरा और अपूर्ण होता है। ऐसी दशा में कला सत्य से परे और हानिकारक होती है।

अरस्तू

आगे चलकर प्लेटो के शिष्य अरस्तू ने कलाओं को अनुकरणात्मक मानते हुए भी उनके महत्त्व को स्वीकार किया। यह प्लेटो के विचारों से भिन्न दृष्टि थी। प्लेटो के विचार जहाँ नैतिक और सामाजिक हैं, वहीं अरस्तू की दृष्टि सौंदर्यवादी है। उन्होंने विरेचन-सिद्धान्त प्रस्तुत किया। इस सिद्धांत के अनुसार गम्भीर कार्यों की सफल और प्रभावशाली अनुकृति वर्णन के रूप में न होकर कार्यों के रूप में होती है जिसमें करुणा और भय उत्पन्न करने वाली घटनाएँ होती हैं जो इन भावों के विरेचन द्वारा एक राहत और आनंद प्रदान करती हैं। अरस्तू के विचार से भय और करुणा के दो भाव हमारे भीतर घनीभूत होते रहते हैं। इस प्रकार की त्रासदी को देखने पर कुशल अभिनय द्वारा ये भाव संतुलित और समंजित हो जाते हैं और इस प्रकार हमारे मन को राहत और आनंद की अनुभूति होती है। कविता या नाटक के पात्रों के बीच इन उत्तेजित वासनाओं और उसके दुष्परिणामों का हमारे शरीर और जीवन से सीधा संबंध न होने के कारण

ये वासनाएँ परिष्कृत संवेदनाओं का रूप ग्रहण करती हैं। यही भावों का विरेचन है और कविता का यही वास्तविक प्रभाव और कार्य होता है।

अरस्तू ने कहा कि काव्य कल्पना पर आधारित होती है। वह वास्तविकता का चित्रण नहीं होता बल्कि उसका आधार सम्भावना है। काव्य वास्तव में अनुकरण है किंतु यही उसकी विशिष्टता है। लेकिन कवि वस्तुओं की पुनर्रचना करता है, नकल नहीं। अनुकरण के कारण ही काव्य आनंददायक होता है। उससे शिक्षा प्राप्त हो सकती है किंतु उसका उद्देश्य शिक्षा प्रदान करना नहीं है। इस प्रकार अरस्तू ने प्लेटो के काव्य संबंधी विचारों एवं आरोपों का निराकण किया।

औदात्य-सिद्धान्त

प्लेटो और अरस्तू के बाद यूनानी काव्य-समीक्षा के क्षेत्र में एक प्रतिनिधि काव्यशास्त्री लोंजाइनस का नाम भी प्रमुखता से आता है। उन्होंने औदात्य-सिद्धांत का प्रतिपादन किया। लोंजाइनस के इस सिद्धांत की अवधारणा ने साहित्येतर इतिहास, दर्शन और धर्म जैसे विषयों को भी अपने अंतर्गत समावेशित किया। उनके अनुसार औदात्य वाणी का उत्कर्ष, कांति और वैशिष्ट्य है जिसके कारण महान कवियों, इतिहासकारों, दर्शनिकों को प्रतिष्ठा सम्मान और ख्याति प्राप्त हुई है। इसी से उनकी कृतियाँ गरिमामय बनी हैं और उनका प्रभाव युग-युगांतर तक प्रतिष्ठित हो सका है। उन्होंने 'उदात्त' को काव्य का प्रमुख तत्त्व माना। उनके अनुसार विचारों की उदात्तता, भावों की उदात्तता, अलंकारों की उदात्तता, शब्द-विन्यास की उदात्तता तथा वाक्य-विन्यास की उदात्तता किसी भी काव्य को श्रेष्ठ बनाती है। एक श्रेष्ठ कविता लोगों को आनंद प्रदान करती है तथा दिव्य-लोक में पहुँचाती है। इस सिद्धांत ने पाश्चात्य जगत को काफी प्रभावित किया।

धीरे-धीरे समय के साथ यूनानी समीक्षा कमजोर पड़ने लगी और रोमन समीक्षा का प्रभाव बढ़ा। रोम कला, साहित्य और संस्कृति संबंधी विचार-विमर्श का केंद्र बना। वहाँ के सिसरो तथा वर्जिल जैसे समीक्षकों ने पाश्चात्य काव्यशास्त्र में उल्लेखनीय योगदान दिया। होरेस ने कहा कि- काव्य में सामंजस्य और औचित्य का होना आवश्यक है। काव्य में श्रेष्ठ विचारों के सामंजस्य के साथ ही पुरातन एवं नवीन का समन्वय होना चाहिए। काव्य के भावपक्ष तथा कलापक्ष दोनों की उत्कृष्टता के प्रति कवि को सजग तथा प्रयत्नशील होना चाहिए।

मध्ययुगीन समीक्षा

पाँचवीं से लेकर पंद्रहवीं शताब्दी के समय को पाश्चात्य काव्यशास्त्र की दृष्टि से अंधायुग माना जाता है। इस दौरान चर्च और पादरियों के प्रभाव के कारण काव्य तथा समीक्षा बुरी तरह से प्रभावित हुई। काव्य में उपेदशात्मकता को अधिक महत्त्व दिया गया। इस काल के काव्यशास्त्रियों में दांते प्रमुख हैं। उनका समय 1265 से 1391 के बीच का माना गया है। उन्होंने गरिमामण्डित स्तरीय जन- भाषा को काव्य के लिए सबसे उपयुक्त माना। काव्य में जन- भाषा के आग्रही दांते ने कहा कि प्रतिभा के साथ ही कवि के लिए परिश्रम और अभ्यास भी आवश्यक है। उनके मुताबिक उच्च विचार, राष्ट्र-प्रेम, मानवप्रेम और सौंदर्यप्रेम काव्य को महत्त्व प्रदान करते हैं।

पुनर्जागरण काल

मध्ययुगीन समीक्षा चर्च और पादरियों के प्रभाव में उपदेशात्मक हो गयी थी। रिनेसाँ या पुनर्जागरण काल में सिडनी और बेन जॉनसन ने उसे मुक्त कराया। सिडनी ने कहा कि आदिकाल से अब तक कविता ही ज्ञान-विज्ञान के प्रसार का माध्यम रही है तथा इसकी उपयोगिता प्रत्येक परिस्थिति में बनी रहेगी। काव्य का उद्देश्य सदाचरण की शिक्षा देने के साथ ही आनंद प्रदान करता है। प्रकृति के अनुकरण का अर्थ नकल नहीं बल्कि उसे भव्यतम रूप में प्रस्तुत कर प्रकृति के प्रति अनुराग उत्पन्न करना है। उसका वास्तविक अर्थ सृजनशीलता है। इसी काल के दूसरे प्रसिद्ध समीक्षक बेन जॉनसन ने भौतिकता के निर्वाह पर बल दिया तथा क्लासिक साहित्य के अनुकरण तथा अनुशीलन को रेखांकित किया।

नव्यशास्त्रवाद

सत्रहवीं और अट्ठारहवीं शताब्दी के बीच के समय को नव्यशास्त्रवादी समीक्षा के नाम से जाना जाता है। इसकी स्थापनाओं के अनुसार साहित्य में उन्नत विचारों का गाम्भीर्य होना चाहिए। साहित्य में उपदेशात्मकता, अपेक्षित साहित्य रचना के लिए अभ्यास तथा अध्ययन का महत्त्व होता है। हृदय पक्ष की तुलना में बुद्धि और तर्क का महत्त्व अधिक है। इस समीक्षा के अंतर्गत उत्कृष्ट प्राचीन साहित्य के अध्ययन की अभिरुचि, पुरातन साहित्यिक मानदण्डों के पालन, साहित्य के वाह्य पक्ष की उत्कृष्टता तथा कलात्मक सौष्ठव पर बल दिया गया।

स्वच्छंदतावाद

अट्ठारहवीं सदी के उत्तरार्ध तथा उन्नीसवीं सदी के प्रारम्भ में स्वच्छंदतावाद ने जोर पकड़ा और वर्ड्सवर्थ, कॉलरिज, शेली तथा कीट्स जैसे कवियों ने स्वच्छंदतावादी काव्य के जरिये स्वछंदतावाद नियामक समीक्षा सिद्धांत की प्रस्थापना दी। इसके तहत काव्य में कवि-कल्पना को महत्त्व प्रदान किया गया। आत्मानुभूति की अभिव्यक्ति पर अधिक बल तथा काव्य के भाव पक्ष को केंद्र में रखा गया। काव्य का उद्देश्य स्वांत:सुखाय तथा आनंद मानते हुए स्वच्छंदतावादी काव्य में प्रेरणा, प्रतिभा तथा कल्पना को प्रमुखता मिली।

यथार्थवाद

इस समीक्षा सिद्धांत में वस्तुस्थिति तथा तथ्यपरकता का आग्रह था। साहित्य की नवीनता, प्राचीन साहित्यिक मानदण्डों, परम्पराओं तथा रूढ़ियों को नकारने की प्रवृत्ति तथा शिल्पगत नवीनता आदि के आग्रह के कारण यर्थाथवाद का काफी विकास हुआ और आगे चलकर इसी के गर्भ से प्रगतिवाद, समाजवादी यर्थाथवाद तथा मनोवैज्ञानिक यर्थाथवाद का विकास हुआ।

कलावाद

इस के अनुसार कला कला के लिए हैं। रचना किसी सिद्धि के लिए नहीं होती। नैतिकता, उपदेश या मनोरंजन काव्य का उद्देश्य नहीं है अपितु वह स्वांत:सुखाय है। इसके अंतर्गत अनुभूति की मौलिकता एवं नवीनता पर विशेष जोर रहा।

अभिव्यंजनावाद

इस सिद्धांत का प्रतिपादन करते हुए बेनेदितो क्रोचे ने कहा कि काव्य-वस्तु नहीं बल्कि काव्यशैली महत्त्वपूर्ण है। अर्थ की अपेक्षा शब्द महत्त्वपूर्ण हैं। और काव्य का सौंदर्य विषय पर नहीं बल्कि शैली पर निर्भर है। अभिव्यंजना ही काव्य का काव्यतत्त्व है।

प्रतीकवाद

उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध्द में बादलेयर, मेलार्मे, बर्लेन, तथा वैलरी आदि ने प्रतीकवाद को बल प्रदान किया। 1886 में कवि ज्याँ मोरेआस ने फिगारो

नामक पत्र में प्रतीकवाद का घोषणापत्र प्रकाशित किया। इस समीक्षा-सम्प्रदाय ने काव्य में शब्द का महत्त्व सर्वोपरि बताया और कहा कि कविता शब्दों से लिखी जाती है, विचारों से नहीं। काव्य सर्वसाधारण के लिए नहीं बल्कि उसे समझ सकने वाले लोगों के लिए होता है। कवि किसी अन्य के प्रति नहीं अपनी आत्मा के प्रति प्रतिबद्ध होता है। शब्द अनुभूतियों और विचारों के प्रतीक होते हैं।

बीसवीं शताब्दी आते-आते समीक्षा की कई प्राणालियाँ विकसित हुईं। आधुनिक युग के इस दौर पर प्रमुख रूप से टी.एस. इलियट तथा आई.ए. रिचर्ड्स ने काफी प्रभाव डाला। टी.एस. एलियट ने परम्परा तथा वैयक्तिक प्रतिभा के समन्वय, निर्वैयक्तिकता के सिद्धांत, वस्तुनिष्ठ समीकरण के सिद्धांत तथा अतीत की वर्तमानता के सिद्धांत का प्रतिपादन करके तुलनात्मकता के माध्यम से वस्तुनिष्ठ समीक्षा का तानाबाना खड़ा किया। आई.ए. रिचर्ड्स ने आधुनिक ज्ञान के आलोक में मूल्य-सिद्धांत की नयी व्याख्या करते हुए व्यावहारिक समीक्षा का सिद्धांत प्रस्तुत किया। इसी शताब्दी में न्यू क्रिटिसिज्म तथा शिकागो समीक्षा का भी प्रभाव देखा गया। काव्य के प्रमुख तत्त्व के रूप में स्ट्रक्चर व टेक्स्चर के माध्यम से वस्तुनिष्ठ समीक्षा असरदार बनी। शैली वैज्ञानिक समीक्षा-प्रणाली भी इसी दौर की देन है।

3

प्लेटो

प्लेटो (428/427 ईसापूर्व – 348/347 ईसापूर्व), या अफ्लातून, यूनान का प्रसिद्ध दार्शनिक था। वह सुकरात का शिष्य तथा अरस्तू का गुरू था। इन तीन दार्शनिकों की त्रयी ने ही पश्चिमी संस्कृति का दार्शनिक आधार तैयार किया। यूरोप में ध्वनियों के वर्गीकरण का श्रेय प्लेटो को ही है।

जीवनी

प्लेटो का जन्म एथेंस के समीपवर्ती ईजिना नामक द्वीप में हुआ था। उसका परिवार सामन्त वर्ग से था। उसके पिता 'अरिस्टोन' तथा माता 'पेरिक्टोन' इतिहास प्रसिद्ध कुलीन नागरिक थे। 404 ई. पू. में प्लेटो सुकरात का शिष्य बना तथा सुकरात के जीवन के अंतिम क्षणों तक उनका शिष्य बना रहा। सुकरात की मृत्यु के बाद प्रजातंत्र के प्रति प्लेटो को घृणा हो गई। उसने मेगोरा, मिस्र, साएरीन, इटली और सिसली आदि देशों की यात्रा की तथा अन्त में एथेन्स लौट कर अकादमी की स्थापना की। प्लेटो इस अकादमी का अन्त तक प्रधान आचार्य बना रहा। सुव्यवस्थित धर्म की स्थापना पाश्चात्य जगत में सर्वप्रथम सुव्यवस्थित धर्म को जन्म देने वाला प्लेटो ही है। प्लेटो ने अपने पूर्ववर्ती सभी दार्शनिकों के विचार का अध्ययन कर सभी में से उत्तम विचारों का पर्याप्त संचय किया, उदाहरणार्थ– 'माइलेशियन का द्रव्य', 'पाइथागोरस का स्वरूप', 'हेरेक्लाइटस का

परिणाम', 'पार्मेनाइडीज का परम सत्य', 'जेनो का द्वन्द्वात्मक तर्क' तथा 'सुकरात के प्रत्ययवाद' आदि उसके दर्शन के प्रमुख स्रोत थे।

प्लेटो का मत

प्लेटो के समय में कवि को समाज में आदरणीय स्थान प्राप्त था। उसके समय में कवि को उपदेशक, मार्गदर्शक तथा संस्कृति का रक्षक माना जाता था। प्लेटो के शिष्ष्य का नाम अरस्तू था। प्लेटो का जीवनकाल 428 ई.पू. से 347 ई.पू. माना जाता है। उसका मत था कि 'कविता जगत की अनुकृति है, जगत स्वयं अनुकृति है, अत: कविता सत्य से दोगुनी दूर है। वह भावों को उद्वेलित कर व्यक्ति को कुमार्गगामी बनाती है। अत: कविता अनुपयोगी है एवं कवि का महत्त्व एक मोची से भी कम है।'

रचनाएँ

प्लेटो की प्रमुख कृतियों में उसके संवाद का नाम विशेष उल्लेखनीय है। प्लेटो ने 35 संवादों की रचना की है। उसके संवादों को तीन भागों में विभाजित किया जा सकता है-

सुकरातकालीन संवाद - इसमें सुकरात की मृत्यु से लेकर मेगारा पहुँचने तक की रचनाएं हैं। इनमें प्रमुख हैं- हिप्पीयस माइनर, ऐपोलॉजी, क्रीटो, प्रोटागोरस आदि।

यात्रीकालीन संवाद - इन संवादों पर सुकरात के साथ-साथ 'इलियाई मत' का भी कुछ प्रभाव है। इस काल के संवाद हैं- क्लाइसिस, क्रेटिलस, जॉर्जियस इत्यादि।

प्रौढ़कालीन संवाद - इस काल के संवादों में विज्ञानवाद की स्थापना मुख्य विषय है। इस काल के संवाद हैं- सिम्पोसियान, फिलेब्रुस, ट्रिमेर्यास, रिपब्लिक और फीडो आदि।

प्लेटो की रचनाओं में 'द रिपब्लिक', 'द स्टैट्समैन', 'द लाग', 'इयोन', 'सिम्पोजियम' आदि प्रमुख हैं।

काव्य के महत्त्व की स्वीकार्यता

प्लेटो काव्य के महत्व को उसी सीमा तक स्वीकार करता है, जहां तक वह गणराज्य के नागरिकों में सत्य, सदाचार की भावना को प्रतिष्ठित करने में

सहायक हो। प्लेटो के अनुसार 'मानव के व्यक्तित्त्व के तीन आंतरिक तत्त्व होते हैं–

Plato प्लेटो, यूनान के प्रसिद्ध दार्शनिक, गणितज्ञ और सुकरात के शिष्य एवं अरस्तु के गुरु थे। पश्चिमी जगत की दार्शनिक पृष्ठभूमि को तैयार करने में इन तीन दार्शनिको की त्रयी ने महत्वपूर्ण भूमिका निभाई थी। Plato प्लेटो को अफलातून के नाम से भी जाना जाता है। पश्चिमी जगत में उच्च शिक्षा के लिए पहली संस्था "एकेडमी" की स्थापना का श्रेय भी प्लेटो को ही जाता है। उन्हें दर्शन और गणित के साथ साथ तर्कशास्त्र एवं नीतिशास्त्र का भी अच्छा ज्ञान था।

प्लेटो ने कई विषयों पर विस्तार से कलम चलाई है लेकिन सामान्य दर्शन और निति शास्त्र में उनकी दिलचस्पी उद्घाटित हुयी है। प्लेटो लिखते है कि वे शरीर और आत्मा में भेद देखते हैं। वे यह भी लिखते हैं कुछ लोग भौतिक दुनिया को तुच्छ मानते हैं और कुछ लोग इसी को अहमियत देते हैं।

आरंभिक जीवन–

Plato के प्रारंभिक जीवन और शिक्षा के बारे में बहुत कम जानकारी उपलब्ध है। कहा जाता है की इस दर्शनशास्त्री का जन्म एथेंस के एक समृद्ध और राजनैतिक परिवार में हुआ था। प्लाटो के जन्म स्थान और जन्म तारीख से संबंधित सही जानकारी प्राप्त नहीं हुई है। प्राचीन सूत्रों के अनुसार महान विद्वानों का मानना है की उनका जन्म एथेंस में 429 या 423 ई. में हुआ था। इनके पिता अरिस्टों थे।

विविध संस्कृतियों के अनुसार उनक परिवार बहुत समृद्ध और एथेंस के राजा से भी उनके मधुर संबंध थे। प्राचीन सूत्रों के अनुसार प्लेटो बचपन से ही होशियार थे और बचपन से ही उनमें दर्शनशास्त्र के गुण थे। उनके पिता ने उन्हें वो सारी सुविधायें भी प्रदान की जो उन्हें चाहिये थी। उस समय के कुछ महान शिक्षकों ने प्लाटो को ग्रामर, म्यूजिक, जिमनास्टिक और दर्शनशास्त्र की शिक्षा दे रखी थी।

प्लेटो का जन्म एथेंस के समीपवर्ती ईजिना नामक द्वीप में हुआ था। उसका परिवार सामन्त वर्ग से था। उसके पिता 'अरिस्टोन' तथा माता 'पेरिक्टोन' इतिहास प्रसिद्ध कुलीन नागरिक थे। 404 ई. पू. में प्लेटो सुकरात का शिष्य बना तथा सुकरात के जीवन के अंतिम क्षणों तक उनका शिष्य बना रहा। सुकरात की

मृत्यु के बाद प्रजातंत्र के प्रति प्लेटो को घृणा हो गई। उसने मेगोरा, मिस्र, साएरीन, इटली और सिसली आदि देशों की यात्रा की तथा अन्त में एथेन्स लौट कर अकादमी की स्थापना की। प्लेटो इस अकादमी का अन्त तक प्रधान आचार्य बना रहा।

बचपन से ही प्लेटो को दर्शनशास्त्र पसंद था और इसके अलावा वें दूसरे विषयो में भी होशियार थे। अमीर परिवार होने की वजह से प्लेटो को घर से सब कुछ मिलता था और उनके पिता अरिस्टो ने उसे पढाई के लिए उस समय की अच्छी अकादमी में भेज दिया था, जहा पर प्लेटो को दर्शनशास्र, तर्कशास्त्र और नीतिशास्त्र के साथ साथ कुछ और विषय भी अच्छे से पढाये गए थे।

प्लेटो अपने शिक्षको की बाते बड़ी जल्दी से याद कर लेते थे। वें बचपन से ही स्वस्छ और उमदा विचारों वाले थे। उस अकादमी में प्लेटो महान गुरु सुकरात के शिष्य बने, जो उनके लिए बड़े सौभाग्य की बात थी। अपने जीवन में प्लेटो ने जितने लेख लिखे हैं उनमें ज्यादातर लेखों में उनके अपने विचार और गुरु सुकरात के विचार ही लिखे हैं। सुकरात के पुरे जीवन की जानकारी सिर्फ प्लेटो के लेख से ही मिलती है, उसके अलावा वो कहीं पर भी नहीं रही।

प्लेटो ने कई विषयो पर बड़े बड़े लेख लिखे जिनमे सामान्य दर्शन और निति शास्त्र के लेख सबसे लोकप्रिय बने। उनके लेख के मुताबिक वे शरीर और आत्मा के भेद को भी देख सकते थे। उनके नजरिये से कुछ लोग भौतिक दुनिया को तुच्छ तो सामने कुछ लोग इसको अहमियत देते हैं और दार्शनिक मतों वाले इंसान बाहरी सीमाओं और सौन्दर्य के साथ सत्य, एकता और न्याय के बीच अच्छे से भेद कर सकते हैं।

अपने शिक्षक सोक्रेटस और अपने सबसे प्रसिद्ध विद्यार्थी एरिस्टोटल के साथ प्लेटो ने पश्चिमी दर्शनशास्त्र और विज्ञान की भी स्थापना की थी। एक बार अल्फ्रेड ने कहा था की, 'यूरोपियन दर्शनशास्त्र परंपरा का सबसे साधारण चित्रीकरण हमें प्लेटो की पादटिपण्णी में दिखायी देता है।' पश्चिमी विज्ञान, दर्शनशास्त्र और गणित में पश्चिमी दुनिया में प्रसिद्ध होने के साथ ही पश्चिमी धर्म और साहित्य, विशेषत: क्रिस्चियन धर्म के संस्थापक भी थे। प्लाटो ने क्रिस्चियन धर्म पर अपने विचारों से काफी प्रभाव डाला था। प्लाटो क्रिस्चियन इतिहास में सबसे महत्वपूर्ण दर्शनशास्त्रियों और विचारकों में से एक थे।

प्लेटो के समय में कवि को समाज में आदरणीय स्थान प्राप्त था। उसके समय में कवि को उपदेशक, मार्गदर्शक तथा संस्कृति का रक्षक माना जाता था।

प्लेटो के शिष्य का नाम अरस्तू था। प्लेटो का जीवनकाल 428 ई.पू. से 347 ई.पू. माना जाता है। उसका मत था कि 'कविता जगत की अनुकृति है, जगत स्वयं अनुकृति है, अतः कविता सत्य से दोगुनी दूर है। वह भावों को उद्वेलित कर व्यक्ति को कुमार्गगामी बनाती है। अतः कविता अनुपयोगी है एवं कवि का महत्त्व एक मोची से भी कम है।'

पुस्तकें–

द एपोलॉजी, द रिपब्लिक, फेडो, द क्रिटो, लाचेस, लिसिस, चार्माइड्स, युथीफ्रो, हिप्पीअस माईनर एंड मेजर, प्रोटागोरस, गोर्जिअस, आयॉन आदि.

तथ्य–

431 ईसा पूर्व से लेकर 404 ईसा पूर्व तक एथेंस और स्पार्टा के बीच हुआ था। विपरीत परिस्थितियों में बच्चों को भी कठोर शारीरिक शिक्षा से गुजरना अनिवार्य हो गया था। प्लेटो को भी इस कठोर शारीरिक शिक्षा से गुजरना पड़ा था। प्लेटो सुकरात के शिष्य व अरस्तु के गुरु थे। सुकरात के विचारों और सिद्धांतों को प्रचलित करने श्रेय प्लेटो को जाता है। जिन्होंने गुरु सुकरात की शिक्षाओं को समझाया व उनके मतों को नए आयाम भी दिये। सुकरात और अरस्तु के साथ प्लेटो पश्चिमी सभ्यता की संपूर्ण बौद्धिक परम्पराओं के रचनाकार थे।

विचार–

- समझदार व्यक्ति इसीलिए बोलता है क्योंकि उसके पास बोलने के लिए या दूसरों से बांटने के लिए कई अच्छी बातें होती हैं, लेकिन एक बेवकूफ व्यक्ति इसीलिए बोलता है क्योंकि उसे कुछ न कुछ बोलना होता है।
- तीन चीजों से बनता है मनुष्य का व्यवहार–चाहत, भावनाएं और जानकारी।
- मनुष्य द्वारा किया अच्छा व्यवहार उसे ताकत देता है और दुसरो को उसी तरह से अच्छा व्यवहार करने के लिए प्रेरित करता है।
- मनुष्य में ऐसी ताकत है जो आपको आगे बढ़ने के लिए प्रोत्साहित कर सकती है या आपके पंख काटकर आगे बढ़ने के रास्ते बंद भी कर सकती है। ये आप पर निर्भर करता है कि आप कौन–सी ताकत अपनाते हैं।

- दो ऐसी चीजें हैं जिनके बारे में मनुष्य को कभी गुस्सा या खफा नहीं होना चाहिए। पहली, वह किन लोगों की मदद कर सकता है। दूसरी, वह किन लोगों की मदद नहीं कर सकता है।
- तीन किस्म के लोग होते है–पहला, जो बुद्धिमान बनना चाहता है। दूसरा, जिसे अपनी प्रतिष्ठा से प्यार है और तीसरा, जो जिंदगी में कुछ हासिल करना चाहता है।
- व्यक्ति दूसरों पर राज करना चाहता है, वह कभी राज नहीं कर सकता। वैसे ही जैसे कोई व्यक्ति किसी को पढ़ाने का दबाव महसूस करके अच्छा शिक्षक नहीं बन सकता है।
- स्वयं को इस जन्म और अगले जन्म में भी काम में लगाइए। बिना प्रयत्न के आप समृद्ध नहीं बन सकते। भले भूमि उपजाऊ हो, बिना खेती किये उसमे प्रचुर मात्रा में फसलें नहीं उगाई जा सकती।
- एक अच्छा निर्णय ज्ञान पर आधारित होता है नंबरों पर नहीं।
- एक नायक सौ में एक पैदा होता है, एक बुद्धिमान व्यक्ति हजारों में एक पाया जाता है, लेकिन एक सम्पूर्ण व्यक्ति शायद एक लाख लोगों में भी ना मिले।
- सभी व्यक्ति प्राकृतिक रूप से समान हैं, एक ही मिट्टी से एक ही कर्मकार द्वारा बनाये गए और भले ही हम खुद को कितना भी धोखें में रख लें पर भगवान को जितना प्रिय एक शश्क्त राजकुमार है उतना ही एक गरीब किसान।
- थोड़ा–सा जो अच्छे से किया जाए वो बेहतर है, बजाये बहुत कुछ अपूर्णता से करने से।
- किसी व्यक्ति के लिए स्वयं पर विजय पाना सभी जीतों में सबसे पहली और महान है।
- अगर हर एक व्यक्ति अपनी प्राकृतिक काबिलियत के अनुसार, बिना और चीजों में पड़े, सही समय पर और सिर्फ एक काम करता तो चीजें कहीं बेहतर गुणवत्ता और मात्रा में निर्मित होतीं।
- अच्छे लोगों को जिम्मेदारी से रहने के लिए कहने हेतु कानून की जरुरत नहीं पड़ती, और बुरे लोग कानून से बच कर काम करने का रास्ता निकाल लेते हैं।

- आदमी अपने भविष्य का निर्धारण अपनी शिक्षा के शुरुवात की दिशा से करता है।
- आप बातचीत से एक वर्ष की तुलना में खेलने के एक घंटे में किसी व्यक्ति के बारे में अधिक जान सकते हैं।
- केवल मरने वालों ने युद्ध का अंत को देखा है।
- साहस जनता है, डरो मत।
- काम करने का सबसे महत्वपूर्ण हिस्सा शुरुआत है।
- प्यार एक गंभीर मानसिक बीमारी है।
- हम अंधेरे से डरने वाले बच्चे को आसानी से माफ कर सकते हैं, जीवन की असली त्रासदी तब है, जब लोग प्रकाश से डरते हैं।
- अकेली बुद्धि अन्य विज्ञानों का विज्ञान है।
- हम सीख नहीं रहे हैं, और जिसे हम सीखना कह रहे हैं वह केवल स्मरणशक्ति की एक प्रक्रिया है।
- कोई भी आदमी आसानी से दूसरे का नुकसान कर सकता है, लेकिन हर आदमी दूसरे के लिए अच्छा नहीं कर सकता है।

प्लेटो का जीवन परिचय एवं शिक्षा दर्शन

महान् यूनानी दार्शनिक प्लेटो का जन्म 427 ई. पूर्व में एथेन्स के एक कुलीन परिवार में हुआ था। उनके पिता अरिस्टोन एथेन्स के अन्तिम राजा कोर्डस के वंशज तथा माता पेरिकतिओन यूनान के सोलन घराने से थी। प्लेटो का वास्तविक नाम एरिस्तोकलीज था, उसके अच्छे स्वास्थ्य के कारण उसके व्यायाम शिक्षक ने इसका नाम प्लाटोन रख दिया। प्लेटो शब्द का यूनानी उच्चारण 'प्लातोन' है तथा प्लातोन शब्द का अर्थ चौड़ा-चपटा होता है। धीरे-धीरे प्लातोन के स्थान पर प्लेटो कहाजाने लगा। वह आरम्भ से ही राजनीतिज्ञ बनना चाहता था लेकिन उसका यह स्वप्न पूरा न हो सका और वह एक महान् दार्शनिक बन गया। प्लेटो के जन्म के समय एथेन्स यूनान का महानतम राज्य था, लेकिन लगातार 30 वर्षों तक स्पार्टा और पलीपोनेशिया के साथ युद्ध ने एथेन्स की प्रतिष्ठा मिट्टी में मिला दी। 404 ई. पू. में एक क्रांति द्वारा एथेन्स में लोकतन्त्र के स्थान पर तीस निरंकुशों का शासन स्थापित हुआ। प्लेटो को शासन में भाग लेने के लिए आमन्त्रित किया गया लेकिन उसने शासन में भाग लेने से इन्कार कर दिया। शीघ्र ही दूसरी क्रान्ति द्वारा एथेन्स में तीस

निरंकुशों के स्थान पर पुनः प्रजातन्त्र की स्थापना की गई। लेकिन इस शासन के दौरान सुकरात की मृत्यु ने उसके दिल में प्रजातन्त्र के प्रति घृणा पैदा कर दी।

वह 18 या 20 वर्ष की आयु में सुकरात की ओर आकर्षित हुआ। यद्यपि प्लेटो तथा सुकरात में कुछ विभिन्नताएँ थीं लेकिन सुकरात की शिक्षाओं ने इसे अधिक आकर्षित किया। प्लेटो सुकरात का शिष्य बन गया। सुकरात के विचारों से प्रेरित होकर ही प्लेटो ने राजनीति की नैतिक व्याख्या की, सद्‌गुण को ज्ञान माना, शासन कला को उच्चतम कला की संज्ञा दी और विवेक पर बल दिया। 399 ई. पू. में सुकरात को मृत्यु दण्ड दिया गया तो प्लेटो की आयु 28 वर्ष थी। इस घटना से परेशान होकर वह राजनीति से विरक्त होकर एक दार्शनिक बन गए। उसने अपनी रचना 'रिपब्लिक' में सुकरात के सत्य तथा न्याय को उचित ठहराने का प्रयास किया है। यह उसके जीवन का ध्येय बन गया। वह सुकरात को प्राण दण्ड दिया जाने पर एथेन्स छोड़कर मेगरा में चला गया। क्योंकि वह लोकतन्त्र से घृणा करने लग गया था। मेगरा जाने पर 12 वर्ष का इतिहास अज्ञात है। लोगों का विचार है कि इस दौरान वह इटली, यूनान और मिस्र आदि देशों में घूमता रहा। वह पाइथागोरस के सिद्धान्तों का ज्ञान प्राप्त करने के लिए 387 ई. पू. में इटली और सिसली गया। सिसली के राज्य सिराक्यूज में उसकी भेंट दियोन तथा वहाँ के राजा डायोनिसियस प्रथम से हुई। उसके डायोनिसियस से कुछ बातों पर मतभेद हो गए और उसे दास के रूप में इजारन टापू पर भेज दिया गया। उसे इसके एक मित्र ने वापिस एथेन्स पहुँचाने में उसकी मदद की।

प्लेटो ने 386 ई. पू. में इजारन टापू से वापिस लौटकर अपने शिष्यों की मदद से एथेन्स में अकादमी खोली जिसे यूरोप का प्रथम विश्व विद्यालय होने का गौरव प्राप्त है। उसने जीवन के शेष 40 वर्ष अध्ययन-अध्यापन कार्य में व्यतीत किए। प्लेटो कीइस अकादमी के कारण एथेन्स यूनान का ही नहीं बल्कि सारे यूरोप का बौद्धिक केन्द्र बन गया। उसकी अकादमी में गणित और ज्यामिति के अध्ययन पर विशेष जोर दिया जाता था। उसकी अकादमी के प्रवेश द्वार पर यह वाक्य लिखा था- "गणित के ज्ञान के बिना यहाँ कोई प्रवेश करने का अधिकारी नहीं है।" यहाँ पर राजनीतिज्ञ, कानूनवेता और दार्शनिक शासक बनने की भी शिक्षा दी जाती थी।

डायोनिसियस प्रथम की मृत्यु के बाद 367 ई. पू. डायोनिसियस द्वितीय सिराक्यूज का राजा बना। अपने मित्र दियोन के कहने पर वह वहाँ जाकर राजा

को दर्शनशास्त्र की शिक्षा देने लग गया। इस दौरान राजा के चाटुकारों ने दियोन के खिलाफ बोलकर उसे देश निकाला दिलवा दिया और उसकी सम्पत्ति व पत्नी जब्त कर ली। इससे नाराज प्लेटो एथेन्स वापिस चला गया। 361 ई. पू. में डायोनिसियस ने उसे दोबारा सिराक्यूज आने का निमन्त्रण दिया, परन्तु वह यहाँ आने को तैयार नहीं था, लेकिन तारेन्तय के दार्शनिक शासक की प्रेरणा से वह वहाँ आकर डायोनियस को दर्शनशास्त्र का ज्ञान देने लग गया। लेकिन दोबारा डायोनिसिथस व प्लेटो में सैद्धान्तिक बातों पर मतभेद हो गए और वह वापिस एथेन्स आ गया। इससे उसकी आदर्शवादिता को गहरा आघात पहुँचा और वह व्यावहारिकता की ओर मुड़कर 'The Laws' नामक ग्रन्थ लिखने लग गया। अपने किसी शिष्य के आग्रह पर वह एक विवाह समारोह में शामिल हुआ और वहीं पर सोते समय 81 वर्ष की अवस्था में उसकी मृत्यु हो गयी।

प्लेटो का जीवन-दर्शन

प्लेटो अपने गुरू सुकरात की ही तरह यह मानते हैं कि समय की आवश्यकता जीवन में एक नये नैतिक बन्धन (मोरल बॉन्ड) की है। प्लेटो ने जीवन के लिए एक नए नैतिक आधार को तैयार करने की कोशिश की जिसमें व्यक्ति को पर्याप्त अवसर हो तथा संस्थागत जीवन को भी उचित मान्यतामिले। प्लेटो इस नए नैतिक बन्धन का आधार विचारों तथा सार्वभौमिक एवं शाश्वत सत्य को मानते है। उनके अनुसार अच्छाइ ज्ञान या पूर्ण विचारों में समाहित होता है जो कि 'मत' से भिन्न होता है।

प्लेटो एक आदर्शवादी चिन्तक थे जिन्होंने यथार्थ तथा अस्थायी कीउपेक्षा की है तथा सार्वभौम और स्थायी पर बल दिया है। प्लेटो के लिए दृष्टिगोचर होने वाली वस्तुएँ कालसत्तात्मक (ऐहिक) है तथा अदृश्य वस्तुएँ ही नित्य हैं। उसके प्रत्यय दिव्य उपपत्तियां है, तथा इनका अनुभव ही विज्ञान अथवा ज्ञान है। इसके विपरीत वे लोग जो सिद्धान्तों का उनके मूर्त प्रतिमूर्तियों से अलग बोध नहीं रखते, ऐसे संसार में रहते हैं, जिसे प्लेटो स्वापनिक स्थिति कहते हैं। उनका वस्तुओं से परिचय मात्र 'मत' के समान होता है, वे यर्थाथ का बोध तो रखते है, किन्तु सत् के ज्ञान से रहित होते हैं।

आदर्शवादी दर्शन भौतिक पदार्थ की तुलना में विचार को स्थायी औरश्रेष्ठ मानता है। प्लेटो महानतम आदर्शवादी शिक्षाशास्त्री थे। उनके अनुसार पदार्थ जगत, जिसको हम इन्द्रियों से अनुभव करते हैं, वह विचार जगत का ही परिणाम

है। विचार जगत वास्तविक और अपरिवर्तनशील है। इसी से भौतिक संसार का जन्म होता है। भौतिक पदार्थों का अन्त अवश्यम्भावी है।

विचार जगत का आधार प्रत्यय है। प्लेटो के अनुसार प्रत्यय पूर्ण होता है और इन्द्रियों के सम्पर्क में आने वाले भौतिक वस्तु अपूर्ण। प्लेटो ने फेइडरस में सुकरात से कहलवाया है कि सत्य या वास्तविकता का निवास मानव के मस्तिष्क में होता है न कि बाह्य प्रकृति में। ज्ञानी मानव वह है जो दृष्टि जगत पर ध्यान न देकर प्रत्ययों के ज्ञान की जिज्ञासा रखता है- क्योंकि प्रत्ययों का ज्ञान ही वास्तविक ज्ञान है। ज्ञान तीन तरह के होते है- (i)इन्द्रिय-जन्य ज्ञान (ii) सम्मति जन्य ज्ञान तथा (iii) चिन्तन या विवेक जन्य ज्ञान। इनमें से प्रथम दो अधूरा, अवास्तविक एवं मिथ्या ज्ञान है जबकि चिन्त नया विवेकजन्य (प्रत्ययों का) ज्ञान इन्द्रियातीत होने के कारण वास्तविक, श्रेष्ठ एवं अपरिवर्तनशील है। व्यक्ति किसी भी पदार्थ को अपनी दृष्टि से देखकर उसकी व्याख्या करता है।- दूसरा व्यक्ति उसी पदार्थ की उससे भिन्न अर्थ ग्रहण कर सकता है। इस तरह से सम्मति भिन्न हो सकती है। अत: इसे ज्ञान कहना उचित नहीं है। प्लेटो ने रेखागणित के सिद्धान्तों को बेहतर ज्ञान कहा। जैसे त्रिभुज की दो भुजा मिलकर तीसरी भुजा से बड़ी होती है- यह सभी त्रिभुजों के लिए सही है। इससे भी अधिक श्रेष्ठ ज्ञान प्लेटो ने तत्त्व ज्ञान को माना।

प्लेटो ने संसार को सत् और असत् दोनों का संयोग माना है। प्रत्ययों पर आधारित होने के कारण संसारिक पदार्थ सत् है पर समरूपता का आभाव एवं क्षणभंगुरता उसे असत् बना देता है। प्लेटो ने दृष्टि जगत को द्रष्टा की क्रिया का फल माना है। प्लेटो आत्मा की अमरता को स्वीकार करते हुए इसे परम विवेक का अंश मानता है।

नैतिक मूल्यों के सिद्धान्त को प्लेटो के संवाद में उच्च स्थान मिला है। सोफिस्टों ने यह धारणा फैलायी थी कि गलत और सही परिस्थिति विशेषपर निर्भर करता है। जो एक समय और स्थान पर सही है वह दूसरे समयऔर स्थान पर गलत हो सकता है। प्लेटो सुकरात के माध्यम से इस अवसरवादी विचारधारा का विरोध करते हुए कहते हैं कि नैतिक मूल्य शाश्वत हैं। फेडो में प्लेटो ने सम्पूर्ण सुन्दरता, सम्पूर्ण अच्छाई तथा सम्पूर्ण महानता की बात की है। इस संसार में जो भी सुंदर या अच्छा है वह इसी सम्पूर्ण सुन्दरता या अच्छाई का अंश है। सर्वोच्च सत्य से ही अन्य जीव एवं पदार्थ अपना अस्तित्त्व प्राप्त करते हैं।

यद्यपि प्लेटो ने सर्वोच्च सत्य या सत्ता को ईश्वर या गॉड के नाम से नहीं पुकारा पर इसी परम सत्य का अंश मानव की आत्मा को माना। प्लेटो के अनुसार इस संसार और जीवन से परे भी एक संसार और जीवन है जो अधिक सत्य, अधिक सुंदर तथा अधिक वास्तविक है। आदर्श जीवन का उद्देश्य शिवत्व (अच्छाई) एवं सुन्दरता प्राप्त करना बताता है।

प्लेटो की अध्ययन शैली और पद्धति

प्लेटो ने प्रत्येक विषय को स्पष्ट करने के लिए सशक्त, रोचक और आकर्षक संवाद शैली अपनाई है। उसकी रचनाओं में केवल एक पात्र का दूसरे पात्र से वार्तालाप ही नहीं होता बल्कि दर्शन कविता के साथ, विज्ञान कला के साथ, सिद्धान्त व्यवहार के साथ, राजनीति अर्थशास्त्र के साथ, भावना विवेक के साथ, शरीर आत्मा के साथ, व्यायाम संगीत के साथ स्वर में स्वर मिलाकर बोलते हुए प्रतीत होते हैं। इसके चलते जहाँ प्लेटो को समझना कुछ कठिन होता है, वहाँ उन्हें पढ़ना उतना ही आनन्द देता है। क्रॉसमैन ने लिखा है- "मैं जितना अधिक रिपब्लिक को पढ़ता हूँ, उतना ही इससे घृणा करता हूँ, फिर भी इसे बार-बार पढ़े बिना अपने आप को रोक नहीं पाता हूँ।" उसके विचारों में औपन्यासिक रोचकता है। उसने पौराणिक दृष्टान्तों एवं कथाओं को शामिल करके रचनाओं को और अधिक मनोरंजक बना दिया है। प्लेटो का दर्शनशास्त्र भव्य रूप में प्रकट हुआ है। अतएव उसने ऐसी शैली अपनाई है जो सत्य और सौन्दर्य के समन्वय को प्रकट करती है।

प्लेटो ने अपने चिन्तन में अनेक पद्धतियों का प्रयोग किया है। ये पद्धतियाँ नैतिक, राजनीतिक और आध्यात्मिक समस्याओं के विश्लेषण के लिए प्रयोग में लाई गई हैं जिनमें प्रमख इस प्रकार से हैं–

प्लेटो की सबसे प्रमुख पद्धति द्वन्द्वात्मक पद्धति है। प्लेटो ने यह पद्धति अपने गुरु सुकरात से ग्रहण की है। प्लेटो ने रिपब्लिक, स्टेटसनैन, लॉज, क्रीटो आदि ग्रन्थों में इस पद्धति का प्रयोग किया है। यह पद्धति चिन्तन की वह पद्धति है, जिसके द्वारा प्रश्नोत्तर एवं तर्क-वितर्क के आधार पर किसी सत्य की खोज की जाती है। इस पद्धति के द्वारा मस्तिष्क में छिपे विचारों को उत्तेजित कर उन्हें सत्य की ओर ले जाने का प्रयास किया जाता है। इसलिए अपने मौलिक रूप में द्वन्द्वात्मक पद्धति का अर्थ वार्तालाप की प्रक्रिया से है, प्रश्न पूछने और उत्तर देने की शैली से है, तर्क-वितर्क की पद्धति से है, किसी विषय पर अपना मत

प्रकट करने और दूसरे के मत को जानने की विधि से है। वही व्यक्ति किसी विषय पर अपना मत प्रकट कर सकता है, जिसे उस विषय का ज्ञान होता है। ग्रीक जगत में यह विधि कोई नई नहीं है। सुकरात ने कहा कि जब लोगों में परस्पर एक साथ मिलाकर विचार करने की प्रथा आई, तभी इस विधि का जन्म हुआ। लेकिन प्लेटो ने इसे वार्तालाप की प्रणाली मात्र न मानकर इसे सत्य की खोज करने की विधि माना, इस विधि का प्रयोग प्लेटो ने प्रचलित विश्वासोंव धारणाओं का खण्डन करके नए विश्वासों व धारणाओं की स्थापना हेतु किया। प्लेटो का विश्वास था कि एक विचार को धराशायी करके ही दूसरे विचार को प्रतिष्ठित किया जा सकता है। बार्कर का मत है कि- "वैचारिक क्षेत्र में सत्य को तभी एक विजयी के रूप में प्रतिष्ठित किया जा सकता है जब एक रुद्र विचार दूसरे विचार को निगलता है।" प्लेटो का विश्वासथा कि धीरे-धीरे ही सत्य की ओर बढ़ा जा सकता है। विशिष्ट विचार को 'अनेक में एक' और 'एक में अनेक' की खोज द्वारा ही प्राप्त किया जा सकता है। यह विशिष्ट विचार ही सत्य है। सत्य की खोज ही इस पद्धति का उद्देश्य है। डायलेक्टिक की उत्पत्ति इसी मौलिक तथ्य से होती है कि सभी वस्तुओं में एकता और अनेकता का सामंजस्य पाया जाता है। उसने अपने ग्रन्थ रिपब्लिक में यह स्पष्ट कर दिया है कि किस प्रकार प्रत्येक वस्तु का रूप दूसरी वस्तुओं के रूप से जुड़ा होता है। सभी वस्तुओं के रूप एक-दूसरे से मिलकर सत् या शिव का स्वरूप धारण करते हैं। प्लेटो ने संवाद प्रणाली के माध्यम से पात्रों के द्वाराअन्तिम सत्य का पता लगाने की कोशिश की है। उसने संवाद-शैली को विचार क्रान्ति के सर्वोत्तम एवं रुचिकर साधन के रूप में प्रयोग किया है। इससे पात्रों व श्रोताओं के दिमागों में सत्य को ठूँसने की आवश्यकता नहीं होती। प्लेटो ने इस पद्धति का प्रयोग तीन उद्देश्यों के लिए किया है- (1) सत्य की खोज के लिए (2) सत्य की अभिव्यक्ति और प्रचार के लिए (3) सत्य की परिभाषा के लिए।

द्वन्द्वात्मक पद्धति एक महत्त्वपूर्ण पद्धति होने के बावजूद भी आलोचना का शिकार हुई। आलोचकों ने कहा कि इस पद्धति में प्रश्न अधिक पूछे जाते हैं, उत्तर कम दिए जाते हैं, इसलिए यह मस्तिष्क को भ्रांत करती है। यह सत्य को असत्य और असत्य को सत्य सिद्ध कर सकती है। सत्य की प्राप्ति वाद-विवाद से न होकर मनन से ही हो सकती है। वाकपटुता के बल पर धूर्त व्यक्ति समाज में अपना स्थान बना सकते हैं। यह पद्धति शंकाओं का समाधान करने की बजाय भ्रांति ही पैदा करती है। लेकिन अनेक त्रुटियों के बावजूद भी इस तथ्य को

नकारा नहीं जा सकता कि प्लेटो ने इसके आधार पर न्याय सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है। यह विचार और चिन्तन करने की शक्ति को उत्प्रेरित करने की क्षमता रखती है।

प्लेटो ने अपने राजनीतिक चिन्तन में निगमनात्मक पद्धति का भी काफी प्रयोग किया है। इस पद्धति कासार यह है कि इसमें सामान्य से विशेष की ओर पहुँचा जाता है। इसका अर्थ यह है कि सामान्य सिद्धान्त के आधार पर विशेष के सम्बन्ध में निष्कर्ष निकाले जाते हैं। प्लेटो ने दार्शनिक राजा का सिद्धान्त इसी पद्धति पर आधारित किया है। प्लेटो के अनुसार, "सद्गुण ही ज्ञान है"। दार्शनिक ज्ञानी होते हैं, इसलिए वे सद्गुणी भी होते हैं और उन्हें ही शासक बनना चाहिए। इसी पद्धति का प्रयोग करके प्लेटो ने वर्ग-सिद्धान्त, शिक्षा-सिद्धान्त और दार्शनिक शासक का सिद्धान्त प्रतिपादित किया है। प्लेटो ने अपने सामान्य सिद्धान्त के आधार पर परम्पराओं और रूढ़ियों को तिलांजलि देते हुए निगमनात्मक पद्धति का ही प्रयोग किया है। इस पद्धति को सामान्य से विशिष्ट की ओर चलने वाली पद्धति भी कहा जाता है।

प्लेटो ने अपने चिन्तन में विश्लेषणात्मक पद्धति का भी प्रयोग किया है। इस पद्धति में वस्तु के मौलिक तत्त्वों को अलग-अलग करके अध्ययन किया जाता है ताकि सम्पूर्ण वस्तु का पूर्ण ज्ञान प्राप्त हो सके। वह आत्मा के तीन तत्त्व- विवेक, साहस एवं तृष्णा को मानकर, इनके पृथक्-पृथक् अध्ययन द्वारा मानव स्वभाव का वर्णन करता है। वह दार्शनिक राजा, सैनिक और उत्पादक वर्ग के अलग-अलग अध्ययन के आधार पर इनसे निर्मित राज्य का विश्लेषण करता है।

प्लेटो ने अपने चिन्तन में सादृश्य विधि का भी प्रयोग किया है। उसने अपने सादृश्यों और पौराणिक कथाओं का प्रयोग किया है। उसने इन्हें कहीं तो कलाओं से लिया है और कहीं पशु-जगत् से। रिपब्लिक में कुत्ते के सादृश्य को अनेक स्थानों पर तर्क का आधार बनाया गया है कि जिस प्रकार चौकीदार के काम के लिए कुत्ता व कुत्तिया एक समान हैं, उसी प्रकार राज्य के संरक्षक बनने के लिए पुरुष और स्त्री समान हैं। कलाओं के सादृश्य में वह राजनीति को कला मानता है। अत: अन्य कलाओं की भाँति इसमें भी ज्ञान का आधार होना चाहिए। रिपब्लिक में दार्शनिक राजा की धारणा का आधार अन्य कलाकारों के सादृश्य पर आधारित है। उसका मानना है कि प्रत्येक राजनीतिज्ञ को अपने कार्य का पूरा ज्ञान होना चाहिए। उसका कहना है कि कलाकार की भाँति राजनीतिक कलाकार

को भी व्यवहार के नियमों के प्रतिबन्ध से मुक्त रखना चाहिए। इस पद्धति का अर्थ है कि प्रत्येक वस्तु का कुछ उद्देश्य है और वह अपने उद्देश्य की प्राप्ति के लिए निरन्तर प्रयासरत है और उसी की तरफ अग्रसर होती है। अर्थात् प्रत्येक वस्तु की गति उसे उद्देश्य द्वारा ही निरूपित होती है। प्लेटो के चिन्तन में उसके शिक्षा सिद्धान्त का दार्शनिक आधार सोद्देश्यता ही है। अत: प्रत्येक वास्तविक राज्य का उद्देश्य आदर्श राज्य की तरफ उन्मुख होना है।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि प्लेटो ने अपने चिन्तन में संवाद शैली का प्रयोग करते हुए बहुत सी पद्धतियों का अनुसरण किया है। उसकी द्वन्द्वात्मक पद्धति का हीगेल और मार्क्स के विचारों पर, सोद्देश्य पद्धति का अरस्तू, दाँते एवं ग्रीन पर प्रभाव पड़ा है। प्लेटो की अध्ययन-पद्धति अनेक पद्धतियों का मिश्रण है। प्लेटो ने आवश्यकतानुसार सभी पद्धतियों का प्रयोग किया है।

प्लेटो का शिक्षा-दर्शन

सुकरात एवं प्लेटो के पूर्व सोफिस्टों का प्रभाव था पर उनकी शिक्षा अव्यवस्थित थी तथा इससे कम ही व्यक्ति लाभान्वित हो सकते थे क्योंकि सोफिस्टों द्वारा दी जाने वाली शिक्षा नि:शुल्क नहीं थी और इस शुल्क कोचुकाने में कुछ ही लोग सक्षम थे। सोफिस्टों ने शिक्षा के उद्देश्य को सीधी उपयोगिता से जोड़ दिया इससे भी वे लोगों की घृणा के पात्र बने। क्योंकि ग्रीस की प्रबुद्ध जनता शिक्षा को अवकाश हेतु प्रशिक्षण मानती थी न कि जीवन के भरण-पोषण का माध्यम। पेलोपोनेसियन युद्ध में एथेन्स की हार को लोगों ने सोफिस्टों की शिक्षा का परिणाम माना। फलत: उनका प्रभाव क्षीण हुआ और सुकरात तथा उसके योग्तम शिष्य प्लेटो को एक बेहतर शिक्षा व्यवस्था के विकास के लिए उचित पृष्ठभूमि मिली।

मानव इतिहास में शिक्षा के सम्बन्ध में प्रथम पुस्तक प्लेटो द्वारा रचित 'रिपब्लिक' है, जिसे रूसो ने शिक्षा की दृष्टि से अनुपम कृति माना। इसके अतिरिक्त 'लाज' में भी शिक्षा के सम्बन्ध में प्लेटो के विचार मिलते हैं। तत्कालीन प्रजातंत्र हो या कुलीन तंत्र, राजनीति स्वार्थ पूर्ति का साधन बन गई थी। षड्यंत्रों, संघर्षो एवं युद्धों की जगह समदर्शी शासन जो नागरिकों के बीच सद्भावना को बढ़ा सके के महान उद्देश्य की प्राप्ति के लिए प्लेटो ने एक नये समाज की रचना आवश्यक माना। इस तरह के समाज की रचना का सर्वप्रमुख

साधन प्लेटो ने शिक्षा को माना। समाज संघर्ष विहीन तभी होगा जब अपने-अपने गुणों के अनुसार सभी लोग शिक्षित होंगे।

प्लेटो ने शिक्षा को अत्यन्त महत्वपूर्ण विषय माना है। दि रिपब्लिक में प्लेटो इसे युद्ध, युद्ध का संचालन एवं राज्य के शासन जैसे महत्वपूर्ण विषयों में से एक मानता है। दि लॉज में शिक्षा को प्रथम तथा सर्वोत्तम वस्तु माना है जो मानव को प्राप्त करनी चाहिए। दि क्रिटो में अपनी बात पर बल देते हुए प्लेटो कहते हैं ''वैसे मानव को बच्चों को जन्म नहीं देना चाहिए जो उनकी उचित देखभाल और शिक्षा के लिए दृढ़ नहीं रह सकते।''

जैसा कि हमलोग देख चुके हैं आदर्शवादी विचारक भौतिक जगत की अपेक्षा आध्यात्मिक या वैचारिक जगत को अधिक वास्तविक और महत्वपूर्ण मानते है। अंतिम या सर्वोच्च सत्य भौतिक जगत की अपेक्षा आध्यात्मिक या वैचारिक जगत के अधिक समीप है क्योंकि 'सत्य' या 'वास्तविक' की प्रकृति भौतिक प्रकृति न होकर आध्यात्मिक है। अतः आदर्शवादियों के लिए भौतिक विज्ञानों की जगह मानविकी- यानि जो विषय स्वयं मानव का अध्ययन करता है अधिक महत्वपूर्ण है। वस्तुनिष्ठ तथ्यों के अध्ययन की जगह संस्कृति कला, नैतिकता, धर्म आदि का अध्ययन हमें सही ज्ञान प्रदान करता है।

शिक्षा का उद्देश्य

प्लेटो शिक्षा को सारी बुराइयों को जड़ से समाप्त करने का प्रभावशाली साधन मानता है। शिक्षा आत्मा के उन्नयन के लिए आवश्यक है। शिक्षा व्यक्ति में सामाजिकता की भावना का विकास कर उसे समाज की आवश्यकताओं को पूरा करने में सक्षम बनाती है। यह नैतिकता पर आधारित जीवन को जीने की कला सिखाती है। यह शिक्षा ही है जो मानव को सम्पूर्ण जीव जगत में सर्वश्रेष्ठ प्राणी होने का गौरव प्रदान करता है। प्लेटो ने शिक्षा के निम्नलिखित महत्वपूर्ण उद्देश्य बताये:-

बुराइयों की समाप्ति एवं सद्गुणों का विकासः- अपने सर्वप्रसिद्ध ग्रन्थ रिपब्लिक में प्लेटो स्पष्ट घोषणा करता है कि 'अज्ञानता ही सारी बुराइयों की जड़ है। सुकरात की ही तरह प्लेटो सद्गुणों के विकास के लिए शिक्षा को आवश्यक मानता है। प्लेटो बुद्धिमत्ता को सद्गुण मानता है। हर शिशु में विवेक निष्क्रिय रूप में विद्यमान रहता है- शिक्षा का कार्य इस विवेक को सक्रिय बनाना है। विवेक से ही मानव अपने एवं राष्ट्र के लिए उपयोगी हो सकता है।

सत्य, शिव (अच्छाई एवं सुन्दर) की प्राप्ति:- प्लेटो एवं अन्य प्राच्य एवं पाश्चात्य आदर्शवादी चिन्तक यह मानते हैं कि जो सत्य है वह अच्छा (शिव) है और जो अच्छा है वही सुन्दर है। सत्य, शिव एवंसुन्दर ऐसे शाश्वत मूल्य हैं जिसे प्राप्त करने का प्रयास आदर्शवादी शिक्षाशास्त्री लगातार करते रहे हैं। प्लेटो ने भी इसे शिक्षा का एक महत्वपूर्ण उद्देश्य माना।

राज्य को सुदृढ़ करना:- सुकरात एवं प्लेटो के काल में ग्रीस में सोफिस्टों ने व्यक्तिवादी सोच पर जोर दिया था। लेकिन आदर्शवादी शिक्षाशास्त्रियों की दृष्टि में राज्य अधिक महत्वपूर्ण है। राज्य पूर्ण इकाई है और व्यक्ति वस्तुत: राज्य के लिए है। अत: शिक्षा के द्वारा राज्य की एकता सुरक्षित रहनी चाहिए। शिक्षा के द्वारा विद्यार्थियों में सहयोग, सद्भाव और भातृश्त्व की भावना का विकास होना चाहिए।

नागरिकता की शिक्षा:- न्याय पर आधारित राज्य की स्थापना के लिए अच्छे नागरिकों का निर्माण आवश्यक है जो अपने कर्तव्यों को समझें और उसके अनुरूप आचरण करें। प्लेटो शिक्षा के द्वारा नई पीढ़ी में दायित्व बोध, संयम, साहस, युद्ध-कौशल जैसे श्रेष्ठ गुणों का विकास करना चाहते थे। ताकि वे नागरिक के दायित्वों का निर्वहन करते हुए राज्य को शक्तिशाली बना सकें।

सन्तुलित व्यक्तित्त्व का विकास:- प्लेटो के अनुसार मानव-जीवन में अनेक विरोधी तत्त्व विद्यमान रहते हैं। उनमें सन्तुलन स्थापित करना शिक्षा का एक महत्वपूर्ण कार्य है। सन्तुलित व्यक्तित्त्व के विकास एवं उचित आचार-विचार हेतु 'स्व' को नियन्त्रण में रखना आवश्यक है। शिक्षा ही इस महत्वपूर्ण कार्य का सम्पादन कर सकती है।

विभिन्न सामाजिक वर्गों को सक्षम बनाना:- जैसा कि हम लोग देख चुके हैं प्लेटो ने व्यक्ति के अन्तर्निहित गुणों के आधार पर समाज का तीन वर्गों में विभाजन किया है। ये हैं– संरक्षक, सैनिक तथा व्यवसायी या उत्पादक वर्ग। दासों की स्थिति के बारे में प्लेटो नेविचार करना भी उचित नहीं समझा। पर ऊपर वर्णित तीनों ही वर्णों को उनकी योग्यता एवं उत्तरदायित्व के अनुरूप अधिकतम विकास की जिम्मेदारी शिक्षा की ही मानी गई।

इस प्रकार प्लेटो शिक्षा को अत्यन्त महत्वपूर्ण मानता है। व्यक्ति और राज्य दोनों के उच्चतम विकास को प्राप्त करना प्लेटो की शिक्षा का लक्ष्य है। वस्तुत: शिक्षा ही है जो जैविक शिशु में मानवीय गुणों का विकास कर उसे आत्मिक बनाती है। इस प्रकार प्लेटो की दृष्टि में शिक्षा का उद्देश्य अत्यन्त ही व्यापक है।

शिक्षा के स्तर

प्लेटो ने आधुनिक मनोवैज्ञानिकों की तरह बच्चे के शारीरिक एवं मानसिक विकास की अवस्था के आधार पर शिक्षा को विभिन्न स्तरों में विभाजित किया है। ये विभिन्न स्तर हैं-

शैशवावस्थाः- जन्म से लेकर तीन वर्ष शैशव-काल है। इस काल में शिशु को पौष्टिक भोजन मिलना चाहिए और उसका पालण-पोषण उचित ढ़ंग से होना चाहिए। चूँकि प्लेटो के आदर्श राज्य में बच्चे राज्य की सम्पत्ति है अतः राज्य का यह कर्तव्य है कि वह बच्चे की देखभाल में कोई ढ़ील नहीं होने दे।

नर्सरी शिक्षाः- इसके अर्न्तगत तीन से छह वर्ष की आयु के बच्चे आते हैं। इस काल में शिक्षा प्रारम्भ कर देनी चाहिए। इसमें कहानियों द्वारा शिक्षा दी जानी चाहिए तथा खेल-कूद और सामान्य मनोरंजन पर बल देना चाहिए।

प्रारम्भिक विद्यालय की शिक्षाः- इसमें छह से तेरह वर्ष के आयु वर्ग के विद्यार्थी रहते हैं। वास्तविक विद्यालयी शिक्षा इसी स्तर में प्रारम्भ होती है। बच्चों को राज्य द्वारा संचालित शिविरों में रखा जाना चाहिए। इस काल में लड़के-लड़कियों की अनियन्त्रित क्रियाओं को नियन्त्रित कर उनमें सामन्जस्य, स्थापित करने का प्रयास किया जाता है। इस काल में संगीत तथा नृत्य की शिक्षा देनी चाहिए। नृत्य एवं संगीत विद्यार्थी में सम्मान एवं स्वतंत्रता का भाव तो भरता ही है साथ ही स्वास्थ्य सौन्दर्य एवं शक्ति की भी वृद्धि करता है। इस काल में गणित एवं धर्म की शिक्षा भी प्रारम्भ कर देनी चाहिए। रिपब्लिक इसी अवधि में अक्षर-ज्ञान देने की संस्तुति करता है पर दि लॉज के अनुसार यह कार्य तेरहवें वर्ष में प्रारम्भ करना चाहिए।

माध्यमिक शिक्षाः- यह काल तेरह से सोलह वर्ष की उम्र की है। अक्षर ज्ञान की शिक्षा पूरी कर काव्य-पाठ, धार्मिक सामग्री का अध्ययन एवं गणित के सिद्धान्तों की शिक्षा इस स्तर पर दी जानी चाहिए।

व्यायाम (जिमनैस्टिक) कालः- यह सोलह से बीस वर्ष की आयु की अवधि है। सोलह से अठारह वर्ष की आयु में युवक-युवती व्यायाम, जिमनैस्टिक, खेल-कूद द्वारा शरीर को मजबूत बनाते हैं। स्वस्थ एवं शक्तिशाली शरीर भावी सैनिक शिक्षा का आधार है। अठारह से बीस वर्ष की अवस्था में अस्त्र-शस्त्र का प्रयोग, घुड़सवारी, सैन्य-संचालन, व्यूह-रचना आदि की शिक्षा एवं प्रशिक्षण दिया जाता है।

उच्च शिक्षा:- इस स्तर की शिक्षा बीस से तीस वर्ष की आयु के मध्य दी जाती है। इस शिक्षा को प्राप्त करने हेतु भावी विद्यार्थियों को अपनी योग्यता की परीक्षा देनी होगी और केवल चुने हुए योग्य विद्यार्थी ही उच्च शिक्षा ग्रहण करेंगे। इस काल में विद्यार्थियों को अंकगणित, रेखागणित, संगीत, नक्षत्र विद्या आदि विषयों का अध्ययन करना था।

उच्चतम शिक्षा:- तीस वर्ष की आयु तक उच्च शिक्षा प्राप्त किए विद्यार्थियों को आगे की शिक्षा हेतु पुन: परीक्षा देनी पड़तीथी। अनुत्तीर्ण विद्यार्थी विभिन्न प्रशासनिक पदों पर कनिष्ठ अधिकारी के रूप में कार्य करेंगे। सफल विद्यार्थियों को आगे पाँच वर्षों की शिक्षा दी जाती है। इसमें 'डाइलेक्टिक' या दर्शन का गहन अध्ययन करने की व्यवस्था थी। इस शिक्षा को पूरी करने के बाद वे फिलॉस्फर या 'दार्शनिक' घोषित हो जाते थे। ये समाज में लौटकर अगले पन्द्रह वर्ष तक संरक्षक के रूप में प्रशिक्षित होंगे और व्यावहारिक अनुभव प्राप्त करेंगे। राज्य का संचालन इन्हीं के द्वारा होगा।

शिक्षण-विधि

प्लेटो के गुरू, सुकरात, संवाद (डायलॉग) द्वारा शिक्षा देते थे- प्लेटो भी इसी पद्धति को पसन्द करते थे। प्लेटो ने संवाद के द्वारा मानव जीवन के हर आयाम पर प्रकाश डाला है। एपालोजी एक अत्यधिक चर्चित संवाद है जिसमें सुकरात अपने ऊपर लगाए गए समस्त आरोपों को निराधार सिद्ध करते हैं। 'क्राइटो' एक ऐसा संवाद है जिसमें वे कीड़ो के साथ आत्मा के स्वरूप का विवेचन करते हैं। प्लेटो अपने गुरू सुकरात के संवाद को स्वीकार कर उसका विस्तार करता है। उसने संवाद को 'अपने साथ निरन्तर चलने वाला संवाद' कहा (मुनरो, 1947- 64)। सुकरात ने इसकी क्षमता सभी लोगों में पाई पर प्लेटो के अनुसार सर्वोच्च सत्य या ज्ञान प्राप्त करने की यह शक्ति सीमित लोगों में ही पायी जाती है। शाश्वत सत्य का ज्ञान छठी इन्द्रिय यानि विचारों का इन्द्रिय का कार्य होता है। इस प्रकार सुकरात अपने समय की प्रजातांत्रिक धारा के अनुकूल विचार रखता था जबकि इस दृष्टि से प्लेटो का विचार प्रतिगामी कहा जा सकता है।

सार्वजनिक शिक्षा

'दि रिपब्लिक' में शिक्षा के वर्गीय चरित्र को प्लेटो ने अपने अंतिम कार्य 'दि लॉज' में प्रजातांत्रिक बनाने का प्रयास किया। वे 'दि लॉज' में लिखते हैं

''बच्चे विद्यालय आयेंगे चाहे उनके माता-पिता इसे चाहे या नहीं चाहे। अगर माता-पिता शिक्षा नहीं देना चाहेंगे तो राज्य अनिवार्य शिक्षा की व्यवस्था करेगी और बच्चे माता-पिता के बजाय राज्य के होंगे। मेरा नियम लड़के एवं लड़कियों दोनों पर लागू होगा। लड़कियों का बौद्धिक एवं शारीरिक प्रशिक्षण उसी तरह से होगा जैसा लड़कों का।'' लड़कियों की शिक्षा पर प्लेटो ने जोर देते हुए कहा कि वे नृत्य के साथ शस्त्र-संचालन भी सीखें ताकि युद्ध काल में जब पुरूष सीमा पर लड़ रहे हों तो वे नगर की रक्षा कर सकें। इस प्रकार मानव जाति के इतिहास में प्लेटो पहला व्यक्ति था जिसने लड़के एवं लड़कियों को समान शिक्षा देने की वकालत की। इस दृष्टि से वह अपने समय से काफी आगे था।

प्लेटो के शिक्षा दर्शन की सीमायें

प्लेटो के आदर्श राज्य में शासक बनने वाले दार्शनिकों की शिक्षा केवल एकांगी ही नहीं है अपितु उसकी उच्च शिक्षा की योजना समुदाय के इसी वर्ग तक सीमित भी है। रक्षकगण केवल संगीत तथा व्यायाम की सामान्य शिक्षा ही प्राप्त करते हैं, और शिल्पकारों को, जिन्हें राज्य-शासन में भाग लेने की अनुमति नहीं दी गई थी, या तो अपरिपक्व व्यावसायिक प्रशिक्षण अथवा 'कोई शिक्षा नहीं' से संतुष्ट होना पड़ता है। शासक वर्ग तकही शिक्षा के लाभों को सीमित रखना आधुनिक प्रजातान्त्रीय शिक्षा के विरुद्ध है।

शिक्षा एवं राज्य की सरकार में शिल्पकारों को भाग लेने से वंचित रखने के कारण प्लेटो के राज्य को 'आदर्श' की संज्ञा नहीं देनी चाहिए। न्यूमन ने ठीक कहा है ''सबसे अच्छा राज्य वह है जो पूर्ण स्वर्ण है, वह नहीं है जो स्वर्णजटित है दस न्यायप्रिय मनुष्यों से अच्छा राज्य नहीं हो जाता, राज्य की श्रेष्ठता का रहस्य इस तथ्य में निहित रहता है कि उसमें उचित रीति से व्यवस्थित श्रेष्ठ नागरिकों का समुदाय हो। प्लेटो ने अपने राज्य के तीन भागों में से किसी एक में भी वांछनीयतम जीवन को अनुभव किए बिना उस सब की बलि दे दी है जो जीवन को प्राप्य बनाता है।'' इस प्रकार आदर्शवादी प्लेटो पर्याप्त रूपेण आदर्शवादी नहीं था।

प्राचीन यूनान में दास प्रथा काफी प्रचलित थी और बड़ी संख्या में दास थे पर प्लेटो उनको सिविल सोसाइटी (नागरिक समाज) का हिस्सा नहीं मानते थे, न ही उन्हें नागरिक का अधिकार देना चाहते थे। अत: उनकी शिक्षा के संदर्भ में प्लेटो कुछ नहीं कहते। वस्तुत: वे उन्हें शिक्षा का अधिकारी नहीं मानते थे

और उनके लिए यह व्यवस्था की कि उन्हें पारिवारिक पेशे को ही अपनाकर घरेलू कार्यों में लगे रहना चाहिए। प्लेटो ने व्यावसायिक शिक्षा को महत्वहीन माना। उनका कहना था कि शिक्षा तो केवल चिन्तन प्रधान-विषय की ही हो सकती है। वे शारीरिक श्रम को निम्न स्तरीय कार्य मानते थे। दि लॉज में तो उन्होंने यहाँ तक प्रावधान कर डाला कि अगर नागरिक अध्ययन की जगह किसी कला या शिल्प को अपनाता है तो वह दण्ड का भागी होगा।

प्लेटो का शिक्षा का सिद्धान्त

प्लेटो अपने आदर्श राज्य में न्याय की प्राप्ति के लिए जिन दो तरीकों को पेश करता है, उनमें से शिक्षा एक सकारात्मक तरीका है। समाज में शिक्षा की बहुत आवश्यकता होती है। शिक्षा द्वारा ही समाज में भ्रातृभाव और एकता की भावना पैदा होती है। शिक्षा के महत्त्व को स्वीकारते हुए प्लेटो कहता है- "राज्य वृक्षों या चट्टानों से निर्मित नहीं होता, बल्कि उन व्यक्तियों के चरित्र से निर्मित होता है, जो उसमें रहते हैं, व्यक्तियों को श्रेष्ठ व चरित्रावान बनाने के लिए शिक्षा की बहुत आवश्यकता है। बार्कर के अनुसार- "शिक्षा एक मानसिक रोग का मानसिक औषधि से इलाज करने का प्रयास है।" शिक्षा व्यक्ति का समाज के प्रति दृष्टिकोण बदलकर उसे अच्छा व्यक्ति बनाती है।

शिक्षा का महत्त्व

शिक्षा का सिद्धान्त न्याय सिद्धान्त का तार्किक परिणाम: अपने आदर्श राज्य को न्याय पर आधारित करने हेतु प्लेटो ने शिक्षा के महत्त्व को स्वीकार किया है। न्याय का अर्थ व्यक्तियों और वर्गों द्वारा अपने स्वभावानुकूल विशिष्ट कार्यों का सम्पन्न करना है। शिक्षा द्वारा व्यक्ति को विशिष्ट कार्य का प्रशिक्षण देकर कुशल व दक्ष बनाया जा सकता है। प्लेटो न्यायकी रक्षा के लिए भी शिक्षा को आवश्यक मानता है।

नागरिकों को सद्‌गुणी बनाना: प्लेटो का शिक्षा-सिद्धान्त इस बात पर आधारित है कि "सदगुणी ही ज्ञान है" यदि सद्‌गुण ज्ञान है तो उसे सिखाया जा सकता है। नागरिकों को सद्‌गुणी बनाने के लिए शिक्षा की आवश्यकता है ताकि समाज के तीनों वर्ग सद्‌गुणी बनकर अपने-अपने कर्त्तव्यों को स्वेच्छा से पूरा कर सकें।

शिक्षा द्वारा व्यक्ति की आत्मा का विकासः प्लेटो का मानना है कि मनुष्य की आत्मा में अनेक श्रेष्ठ तत्त्व निवास करते हैं। इन्हीं अन्तर्निहित तत्त्वों को बाहर निकाल कर सही दिशा में गतिमान करना ही प्लेटो की शिक्षा का उद्देश्य है। शिक्षा एक ऐसा वातावरण तैयार करती है जो आत्मा को अपने विकास के प्रत्येक स्तर पर सहायता करती है। शिक्षा के अभाव में मानव आत्मा पथभ्रष्ट हो सकती है, जो समाज और व्यक्ति दोनों के लिए घातक है।

शिक्षा व्यक्ति को सामाजिक बनाती हैः शिक्षा व्यक्ति के हृदय में समष्टि का भाव भरती है और उसे आत्मसंयम का पाठ पढ़ाती है। यह व्यक्ति को सत्यवादी और आज्ञाकारी होने की सीख देती है तथा अहंकार व स्वार्थ को त्याग कर परमार्थ की ओर प्रेरित करती है। शिक्षा व्यक्ति की सामाजिक चेतना को जगाकर विभिन्न वर्गों में सामंजस्य व एकता स्थापित करती है।

शिक्षा का राजनीतिक महत्त्वः शिक्षा के द्वारा शासक व सैनिक वर्ग को प्रशिक्षण प्राप्त होता है और दार्शनिक शासक का जन्म होता है। शिक्षा लोगों को राजनीतिक जीवन में भाग लेने के योग्य बनाती है। राज्य के प्रत्येक वर्ग को उसके कर्त्तव्य से अवगत कराती है। यह व्यक्ति के राजनीतिक जीवन को परिशुद्ध कर राज्य को एकता के सूत्र में बाँधती है।

शिक्षा का दार्शनिक महत्त्वः शिक्षा अपने आप में एक अच्छाई है। इसका अन्तिम लक्ष्य उस चरम सत्य की खोज करना है जो काल और स्थान से परे है, जो सृष्टि की सभी वस्तुओं का मूल कारण है, जो अपनी विभूति से सदा देदीप्यमान होता है एवं जिसकी ज्योति से समस्त चराचर प्रकाशित होता रहता है। इसी चिरंतन, शाश्वत और अटल सत्य की खोजकर व्यक्ति पार्थिव जीवन की सीमाओं से ऊपर उठने का प्रयास करता है।

शिक्षा सिद्धान्त का दार्शनिक आधार

प्लेटो की शिक्षा योजना के पीछे एक दार्शनिक दृष्टिकोण निहित है। प्लेटो की मान्यता है कि मनुष्य की आत्मा कोई निश्चेष्ट वस्तु न होकर सक्रिय तत्त्व है। अपनी सक्रियता के कारण मन अपने आप को पर्यावरण के हर पदार्थ की ओर अग्रसर करता है। अतः शिक्षक का कार्य तो इस सक्रिय आध्यात्मिक शक्ति को सौन्दर्य की ओर आकृष्ट करना है। प्लेटो के लिए शिक्षा का अर्थ है– "मन के 'अन्तरचक्षु' को प्रकाश की ओर प्रेरित करना।" प्लेटो की शिक्षा योजना का दूसरा महत्त्वपूर्ण दार्शनिक आधार यह है कि मनुष्य की आत्मा को अपनी सतत

सक्रियता के लिए सतत भोज्य पदार्थ की उसी प्रकार आवश्यकता है जैसी कि भौतिक अस्तित्त्व के लिए शरीर को भोजन आवश्यकता है। अत: जब तब आत्मा का अस्तित्त्व है तब तक उसे शिक्षा द्वारा पोषक तत्त्व प्रदान किया जाना चाहिए। अत: शिक्षा जीवनपर्यन्त चलनेवाली प्रक्रिया है। यह युवावस्था में भावनाओं और कल्पनाओं को संतुलित करती है तो प्रौढ़ावस्था में विज्ञान के द्वारा विवेक का विकास करती है और इसके बाद भी दर्शन के द्वारा विभिन्न शास्त्रों के पारस्परिक सम्बन्धों का ज्ञान कराती है एवं मानवजीवन के अन्तिम लक्ष्य को समझने हेतु अन्तर्दृष्टि प्रदान करती है।

प्लेटो मानव मस्तिष्क की सोद्देश्यता में विश्वास करता है। इसकी दो बातें प्रमुख हैं- (i) मानव मस्तिष्क सदा एक उद्देश्य की ओर बढ़ता है क्योंकि यह विवेक प्रेरित होता है। (ii) यह सदैव एक ही उद्देश्य की ओर बढ़ता है और वह उद्देश्य है शिव की प्राप्ति। अत: मस्तिष्क सदैव एक ही उद्देश्य की ओर बढ़ता है और उन्हीं वस्तुओं को जानने का प्रयास करता है जिनके कुछ उद्देश्य होते हैं। शिव के स्वरूप की खोज करना विश्व की समस्त वस्तुओं का आधार है। अत: प्लेटो की शिक्षा की परिणति शिव के स्वरूप के ज्ञान प्राप्त करने में होती है। शिव के स्वरूप का ज्ञान प्राप्त करने का अर्थ है सदाचारपूर्ण कार्य करना। यही सभी वस्तुओं का अन्तिम लक्ष्य है। इसी वास्तविक एवं अन्तिम अर्थ में प्लेटो ने सद्‌गुण को ज्ञान कहा है। अत: 'ज्ञान ही गुण है', यही प्लेटो की शिक्षा का दार्शनिक आधार है।

प्लेटो की शिक्षा के उद्देश्य

प्लेटो की शिक्षा का उद्देश्य व्यक्ति के सम्पूर्ण व्यक्तित्त्व का विकास करना है। यह विकास ज्ञान पर ही निर्भर होता है। इसलिए प्लेटो ने अपनी शिक्षा के उद्देश्य बताए हैं :-

व्यक्तित्त्व के पूर्णत्व की प्राप्ति के लिए प्लेटो के अनुसार शिक्षा को व्यक्ति के सामाजिक और वैयक्तिक दोनों के पक्षों केपूर्ण विकास के उद्देश्य को पूर्ण करना चाहिए।

आदर्श राज्य के निर्माण को सम्भव बनाने के लिए विशेषकर संरक्षक वर्ग (सैनिक व दार्शनिक शासक) को प्रशिक्षित करना शिक्षा का उद्देश्य होना चाहिए।

स्वस्थ शरीर में स्वस्थ आत्मा का निवास होता है। अत: शिक्षा का उद्देश्य शरीर और मस्तिष्क दोनों का विकास होना चाहिए।

प्लेटो का मत है–सदाचार ही ज्ञान है। अतः शिक्षा का उद्देश्य केवल सैद्धान्तिक ज्ञान प्राप्त करना ही नहीं, उसे उस ज्ञान को आचरण में कैसे उतारा जाए इसका व्यावहारिक प्रशिक्षण भी देना चाहिए, प्लेटो के अनुसार विद्यार्थियों को पहले सैद्धान्तिक शिक्षा और उसे बाद प्रयोगात्मक शिक्षा दी जानी चाहिए।

मनुष्य की आत्मा का गुण ज्ञान होने के कारण, शिक्षा का उद्देश्य भी ज्ञान प्राप्त करना है, प्लेटो के अनुसार मानव–आत्मा के पास स्वयं ज्ञान–नेत्र होता है, शिक्षा तो उस ज्ञान–नेत्रा का रुख प्रकाश की ओर आकर्षित करती है। शिक्षा एक ऐसा वातावरण देती है कि आत्मा का ज्ञान स्वतः ही प्रकट हो जाए। प्लेटो के अनुसार शिक्षा आत्म नेत्र को प्रकाशोन्मुख करती है।

शिक्षा का उद्देश्य मात्र वस्तुगत जगत् का ज्ञान प्राप्त करना नहीं है, अपितु वस्तुगत जगत् के मूल में निहित 'सत्' अर्थात् अनन्त वास्तविकता का पूर्ण ज्ञान प्राप्त करना है।

शिक्षा का उद्देश्य मनुष्य को सौन्दर्य के प्रति आकर्षित करना है, अतः विशिष्ट कलाओं, जैसे साहित्य, संगीत आदि का प्रशिक्षण देना भी शिक्षा का उद्देश्य होना चाहिए।

प्लेटो की शिक्षा प्रणाली की विशेषताएँ

चरित्र निर्माण पर बलः प्लेटो की शिक्षा का उद्देश्य नागरिकों को अच्छे या सद्गुणी बनाकर उन्हें राज्य के प्रति निःस्वार्थ सेवा की भावना जगाना है। प्लेटो शिक्षा को एक ऐसा विद्यात्मक साधन मानता है जो नागरिकों का चरित्र निर्माण करती है।

राज्य द्वारा नियन्त्रित तथा अनिवार्य शिक्षाः प्लेटो शिक्षा कोव्यक्तिगत क्षेत्र में नहीं छोड़ना चाहता। वह शिक्षा पर राज्य के नियन्त्रण का पक्षधर है। प्लेटो का मानना है कि राज्य के नियन्त्रण के अभाव में शिक्षा व्यक्तिगत हितों की ही पोषक होगी, सामाजिक हितों की नहीं। प्लेटो ने शिक्षा प्राप्त करना प्रत्येक परिवार व व्यक्ति के लिए अनिवार्य कर दिया है। राज्य की ओर से शिक्षा की अनिवार्य व्यवस्था हो गई है।

कला और साहित्य पर नियन्त्रणः प्लेटो काव्य और साहित्य पर कठोर नियन्त्रण का पक्षधर है। प्लेटो का उद्देश्य गन्दे साहित्य का निर्माण रोकना है। उसका उद्देश्य युवकों को बुरे रास्ते से हटाकर सद्मार्ग पर चलाना है ताकि वे अच्छे नागरिक बन सकें।

स्त्री-पुरुष दोनों के लिए समान शिक्षा: प्लेटो की शिक्षा योजना स्त्री और पुरुष दोनों के लिए है। प्लेटो स्त्री-पुरुष में कोई स्वाभाविक अन्तर नहीं मानता है। वह इस दृष्टि से एथेन्स की शिक्षा प्रणाली का दोष दूर कर देता है क्योंकि उस समय एथेन्स में केवल पुरुषों को शिक्षा प्राप्त करने का अधिकार प्राप्त था। प्लेटो का विश्वास था कि स्त्रियाँ भी राज्य को शक्तिशाली बनाने में योगदान दे सकती हैं। इसलिए दोनों को समान व अनिवार्य शिक्षा मिलनी ही चाहिए।

शिक्षा राज्य के कर्त्तव्य के रूप में: अपने आदर्श राज्य में व्यक्ति को गुणी से सामाजिक बनाने के लिए शिक्षा को अनिवार्य माना है अर्थात् शिक्षा व्यक्ति तथा समाज दोनों का निर्माण करती है। अत: प्लेटो शिक्षा को निजी हाथों में न सौंपकर राज्य को सौंपता है। प्लेटो का उद्देश्य योजनाबद्ध तरीके से नागरिकोंमें कर्त्तव्यभावना पैदा करके उन्हें समाज के अनुरूप बनाना है। सेबाइन ने लिखा है- "प्लेटो की राज्य नियन्त्रित शिक्षा प्रणाली एथेन्स की शैक्षणिक कार्यशैली का नया परिवर्तन था।"

शिक्षा मानसिक रोग का मानसिक उपचार है –प्लेटो सारी बुराई की जड़ अज्ञानता को मानता है। उसका कहना है कि शिक्षा द्वारा ही बुराइयों का अन्त किया जा सकता है। शिक्षा व्यक्ति के स्वभाव को राज्य के उद्देश्य के अनुकूल बदल सकती है। बार्कर के अनुसार- "शिक्षा मानसिक रोग के उपचार के लिए एक मानसिक औषधि है।" अर्थात् यह मानसिक रोग का मानसिक उपचार है।

नैतिक विकास पर बल: प्लेटो की शिक्षा योजना 'सद्गुण ही ज्ञान है' के सिद्धान्त को स्वीकार करके व्यक्ति के नैतिक विकास की परिस्थितियाँ पैदा करती है। प्लेटो कला व साहित्य के ऐसे अंशों पर प्रतिबन्ध लगाने का पक्षधर है जो नागरिकों के नैतिक गुणों का ह्रास करते हों।

सर्वांगीण विकास पर बल: प्लेटो की शिक्षा प्रणाली व्यक्ति के शारीरिक, मानसिक व आध्यात्मिक तीनों पक्षों के पूर्ण विकास पर बल देती है। प्लेटो की शिक्षा योजना व्यक्ति के प्रत्येक सद्गुण को विकसित करने का प्रयास करती है।

शिक्षा केवल उच्च वर्ग के लिए: प्लेटो की शिक्षा प्रणाली में उत्पादक वर्ग के लिए शिक्षा का कोई पाठ्यक्रम ही नहीं है। प्लेटो की शिक्षा का मुख्य उद्देश्य राजनेताओं का निर्माण करना है जिससे आदर्श राज्य का सपना साकार हो सके। अत: प्लेटो संरक्षक वर्ग के लिए शिक्षा की व्यवस्था करने का पक्षपाती है।

शिक्षा-योजना मनोवैज्ञानिक तत्त्वों पर आधारित है—प्लेटो ने मानव स्वभाव की प्रवृत्तियों और आत्मा के तीन तत्त्वों के अनुकूल ही अपनी शिक्षा व्यवस्था को आधारित किया है।

शिक्षा का पाठ्यक्रम आयु-भेद व वर्ग-भेद पर आधारित: प्लेटो ने शिक्षा प्रणाली के दो भाग किए हैं-प्राथमिक व उच्च शिक्षा। दोनो शिक्षा स्तरों का आधार आयु व वर्ग-भेद है। प्रारम्भिक शिक्षा नौजवानों के लिए जबकि उच्च शिक्षा प्रौढ़ावस्था का प्रशिक्षण है तथा शासक वर्ग का भी इसमें गणित, तर्क, दर्शन व विज्ञान का ज्ञान दिया जाता है।

प्लेटो की शिक्षा में सीखने की प्रक्रिया सरल से जटिल की ओर: प्लेटो की शिक्षा व्यवस्था में पाठ्यक्रम सरलता से जटिलता की ओर बढ़ता है। शिक्षा के प्रारम्भिक स्तर पर संगीत, साहित्य, व्यायाम आदि सरल विषय पढ़ाए जाते हैं, परन्तु बीस वर्ष के बाद गणित, विज्ञान आदि कुछ जटिल विषय और अन्त में 30 वर्ष बाद द्वन्द्व व दर्शन का ज्ञान कराया जाता है।

शिक्षा आजीवन प्रक्रिया: प्लेटो की शिक्षा योजना जीवन पर्यन्त चलने वाली प्रक्रिया है। 35 वर्ष से 50 वर्ष तक मनुष्य दार्शनिक व व्यावहारिक ज्ञान प्राप्त करता है। उसके बाद अन्तिम सत्य की खोज करता है। अत: यह आजीवन प्रक्रिया है।

दार्शनिक शासक के लिए प्रशिक्षण: प्लेटो की शिक्षा का उद्देश्य एक ऐसे दार्शनिक शासक का निर्माण करना है जो सर्वगुण सम्पन्न हो और सैनिक व उत्पादक वर्ग पर समाज हित में पूर्ण नियन्त्रण व सभी वर्गों में एकता व सामंजस्य कायम रख सके।

शिक्षा में गणित को महत्त्व: प्लेटो की शिक्षा योजना में सबसे अधिक महत्त्व गणित को दिया गया है। प्लेटो ने अपनी अकादमी के बाहर दरवाजे पर ये शब्द लिखे थे- "जिसे अंकगणित काज्ञान नहीं, वह इसमें प्रवेश नहीं कर सकता।" अत: प्लेटो ने सर्वाधिक महत्त्व गणित को दिया है।

आलोचनाएँ

प्लेटो के शिक्षा सिद्धान्त की आलोचना के आधार हैं :-

शिक्षा मात्रा अभिभावक वर्ग के लिए: प्लेटो शिक्षा को महान् वस्तु मानताहै और उसे आदर्श राज्य का आचार बताता है किन्तु उसने समस्त नागरिकों के लिए शिक्षा का प्रबन्ध न करके केवल अभिभावक वर्ग (सैनिक व दार्शनिक

वर्ग) के लिए ही शिक्षा की योजना प्रस्तुत की है। इस प्रकार उसकी शिक्षा योजना कुलीन तन्त्रावादी है जिसे आधुनिक दृष्टि से अप्रजातांत्रिक कहा जाएगा। सेबाइन ने कहा है- "राज्य में शिक्षा के महत्त्वपूर्ण स्थान को देखकर यह आश्चर्यजनक प्रतीत होता है कि प्लेटो शिल्पियों (उत्पादक वर्ग) के लिए शिक्षा के सम्बन्ध में कोई विचार नहीं करता।" अतः यह सिद्धान्त अभिजातवर्ग का ही पोषक है।

उत्पादक वर्ग की उपेक्षा: प्लेटो की शिक्षा प्रणाली संकुचित है। प्लेटो ने बहुसंख्यक उत्पादक वर्ग की पूर्ण उपेक्षा की है। प्लेटो के न्याय सिद्धान्त के अनुसार प्रत्येक वर्ग, जिसमें उत्पादक वर्ग भी एक है, को अपने समस्त कार्य विशिष्टता के साथ करने चाहिएं। किन्तु प्लेटो यह भूल जाता है कि उत्पादक वर्ग बिना शिक्षा व प्रशिक्षण के अभाव में कार्य-कौशल व विशेषज्ञता कैसे प्राप्त करेंगे। अतः प्लेटो द्वारा शिक्षा के क्षेत्र में उत्पादक वर्ग की अपेक्षा न्याय के सिद्धान्त के विपरीत है।

डॉक्टर एवं वकीलों का बहिष्कार: प्लेटो ने अपने राज्य से डॉक्टरों ओर सभी अदालती संस्थाओं का बहिष्कार किया है। उसके अनुसार व्यायाम और संगीत के प्रशिक्षण से नागरिक के शरीर और मन दोनों स्वस्थ रहेंगे और इस प्रकार शारीरिक और मानसिक रोगों के होने की गुंजाइश ही नहीं रहेगी। आलोचकों ने कहा है कि प्लेटो ने अपनी शिक्षा प्रणाली यह ही भरोसा किया है, डॉक्टरों व वकीलों पर नहीं।

साहित्य की उपेक्षा– प्लेटो ने अपनी शिक्षा योजना में गणित को अधिक तथा साहित्य को कम महत्त्व दिया है। साहित्य जीवन व समाज का दर्पण है और मानव की कोमन भावनाओं को विकसित कर उसके दृष्टिकोण को व्यापक करता है।

कला और साहित्य पर कठोर नियन्त्रण: काव्य और साहित्य पर कठोर प्रतिबंध लगाना उचित नहीं होता। इससे स्वतन्त्र कलात्मक प्रवृत्ति मुरझा सकती है और उस पर विध्वंसकारी प्रभाव पड़ सकता है। कला और साहित्य का विकास स्वतन्त्र वातावरण में ही हो सकता है। बार्कर के शब्दों में- "एक नैतिक उद्देश्य के लिए राज्य के पास में जकड़ी हुई कला मानव की भावनाओं को स्पर्श नहीं कर सकती और जो कला विशुद्ध कला के रूप में श्रोता या पाठक की भावनाओं को गुदगुदा नहीं सकती, वह उसके आधार को भी प्रभावित नहीं कर सकती।"

शिक्षा क्रम लम्बा और खर्चीला है: प्लेटो का शिक्षा-क्रम इतना लम्बा और खर्चीला है कि इसको धनी-वर्ग ही ग्रहण कर सकता है। 35 वर्ष तक लगातार अध्ययन से ज्ञान का उत्साहकम हो जाता है और लोगों में इसके प्रति आकर्षण समाप्त हो जाता है। यह राज्य की व्यक्ति के ऊपर जबरदस्ती थोपीगई इच्छा है।

पुरुषों व स्त्रियों की प्रकृति और भावना में अन्तर: प्लेटो ने सभी पुरुषों एवं स्त्रियों के लिए एक ही प्रकार का पाठ्यक्रम निश्चित किया है। दोनों के स्वभाव एवं भावनाओं में अन्तर होने के कारण दोनों के पाठ्यक्रम में अन्तर होना आवश्यक है। प्लेटो ने दोनों के लिए समान शिक्षा व्यवस्था करने की भारी भूल है।

शिक्षा-योजना में विरोधाभास: एक ओर तो प्लेटो शिक्षा व्यवस्था को आदर्श राज्य का आधार मानता है, दूसरी तरफ राज्य का नियन्त्रण स्थापित करता है। यदि उचित शिक्षा के द्वारा आदर्श राज्य की स्थापना हो सकती है तो राज्य का शिक्षा पर नियन्त्रण ठीक नहीं है। प्लेटो कहता है कि उचित शिक्षा की व्यवस्था राज्य द्वारा ही हो सकती है, लेकिन दूसरी ओर शिक्षा व्यवस्था आदर्श राज्य की स्थापना के बाद प्रारम्भ होती है। अत: प्लेटो के दृष्टिकोण में विरोधाभास है। बार्कर के अनुसार- "प्लेटो के शिक्षा सिद्धान्त में कार्य सम्बन्धी आदर्श तथा चिन्तन सम्बन्धी आदर्श के बीच एक प्रकार की डगमगाहट पाई जाती है।"

तकनीकी शिक्षा का कोई प्रावधान नहीं: प्लेटो ने अपनी शिक्षा योजना में तकनीकी शिक्षा का कोई प्रावधान नहीं किया है जो आज के औद्योगिक और तकनीकी विकास के लिए आवश्यक है। तकनीकी विकास के बिना किसी भी राज्य का आर्थिक विकास नहीं हो सकता।

अनावश्यक एकरूपता का दोष: प्लेटो ने अपनी शिक्षा योजना में सदैव के लिए एक स्थायी और अपरिवर्तनशील पाठ्यक्रम निश्चित किया है। परन्तु वह मानव स्वभाव की रुचि की विविधता को भूल जाता है जिससे वैचारिक संकीर्णता बढ़ती है।

शिक्षा योजना में अधिनायकवाद: प्रो. अल्फ्रेड हार्नले के अनुसार प्लेटो के शिक्षा सिद्धान्त में अधिनायक तन्त्र के बीज छिपे हैं। फासीवादी, नाजीवादी और साम्यवादी के समान प्लेटो का राज्य भी शिक्षा पर पूर्ण नियन्त्रण रखता है, कला और साहित्य पर कठोर प्रतिबन्ध लगाता है, शासन के अनुरूप व्यक्ति के

व्यक्तित्त्व को ढालता है एवं व्यक्ति को अपनी प्रतिभा को स्वतन्त्र रूप से मुखरित करने से वंचित करता है।

व्यक्तित्त्व का स्वतन्त्र विकास नहीं: प्लेटो ने व्यक्ति के व्यक्तित्त्व का विकास राज्य के हित के अनुकूल किया है। प्लेटो ने राज्य के हितों पर व्यक्ति के हितों की बलि चढ़ाकर व्यक्ति के व्यक्तित्त्व की स्वतन्त्रता पर ध्यान नहीं दिया है। पापर के अनुसार- "प्लेटो की शिक्षा का उद्देश्य आत्म-समीक्षा करना एवं समीक्षात्मक विचारों को जगाना नहीं, अपितुमत-शिक्षण है-मस्तिष्क और आत्मा के एक ऐसे साँचे में ढालना है कि वे स्वतन्त्र रूप से कुछ करने के योग्य न हो सकें।

प्लेटो की शिक्षा सिद्धान्त का महत्त्व

प्लेटो के सिद्धान्त की अनेक आलोचनाएँ हुई फिर भी उसका बहुत महत्त्व है। प्लेटो के विचार आधुनिक युग के लिए भी सत्य है। आधुनिक युग में भी स्त्रियों की शिक्षा पर जोर दिया जा रहा है, यह प्लेटो की देन है। मानसिक विकास के साथ-साथ शारीरिक शिक्षा पर भी आज जोर दिया जा रहा है। आज विश्व के अनेक देशों में खराब साहित्य पर राज्य रोक लगाता है। प्लेटो के शिक्षा सिद्धान्त के महत्त्व हैं :-

प्लेटो पहला चिन्तक है जिसने यह बताया कि शिक्षा का सम्बन्ध केवल जीवन के किसी एक निश्चित काल से न होकर समस्त जीवन से है। प्लेटो ने आजीवन शिक्षा की व्यवस्था की है।

प्लेटो ने शिक्षा को आजीवन व निरन्तर चलने वाली प्रक्रिया बताया है। यह सिर्फ मानसिक नहीं, धार्मिक, नैतिक और शारीरिक भी है, संकीर्ण नहीं, सर्वांगीण हैं, सैद्धान्तिक नहीं, व्यावहारिक भी है।

प्लेटो उचित आयु के लिए उचित शिक्षा की व्यवस्था करता है।

प्लेटो की शिक्षा का उद्देश्य शरीर और मस्तिष्क दोनों का विकास करना है।

प्लेटो का प्राथमिक स्तर पर शिक्षा की अनिवार्य व्यवस्था आज के राज्यों में भी पाई जाती है। यह प्लेटो के सिद्धान्त का अनुसरण है।

मैक्सी के अनुसार- "प्लेटो की शिक्षा योजना अनेक दृष्टियों से आश्चर्यजनक रूप में आधुनिक लगती है।" प्लेटो ने शिक्षा परजो बल दिया है तथा शिक्षा का जो व्यापक महत्त्व बताया है। उसके लिए संसार उस महान् शिक्षा-शास्त्री का सदैव ऋणीरहेगा। जावेट का सारगर्भित कथन है- "प्लेटो

पहला लेखक है जो स्पष्ट रूप से कहता है कि शिक्षा का क्रम आजीवन चलना चाहिए।" अत: प्लेटो का शिक्षा सिद्धान्त राजनीतिक चिन्तन के इतिहास में एक अमूल्य एवं बहुत ही महत्त्वपूर्ण देन है।

प्लेटो के साम्यवाद का सिद्धान्त

प्लेटो ने अपने आदर्श में न्याय की प्राप्ति के लिए जो दो तरीके अपनाए हैं, उनमें से साम्यवाद का निषेधात्मक व भौतिक तरीकाभी शामिल है। प्लेटो का मानना है कि आदर्श राज्य की स्थापना में तीन बाधाएँ-अज्ञान, निजी सम्पत्ति व निजी परिवार है।इन बाधाओं को दूर करने के लिए प्लेटो शिक्षा का सिद्धान्त व साम्यवादी व्यवस्था का प्रावधान करता है। अज्ञान को तो शिक्षा द्वारा दूर किया जा सकता है लेकिन निजी सम्पत्ति परिवार की संस्था का लोप करने के लिए वह जिस व्यवस्था का समर्थन करता है, वह साम्यवाद के नाम से जानी जाती है। प्लेटो का साम्यवाद राजनीतिक सत्ता तथा आर्थिक लोलुपता के सम्मिश्रणसे उत्पन्न बुराई को दूर करता है। प्लेटो साम्यवाद के द्वारा अभिभावक या संरक्षक वर्ग को सम्पत्ति तथा पारिवारिक जीवन की चिन्ताओं से मुक्त रखना चाहता है। इस सिद्धान्त को प्रतिपादित करने के पीछे प्लेटो का उद्देश्य शिक्षा के माध्यम से नि:स्वार्थी शासकों को तैयार करने के बाद भी सांसारिक आकर्षणों और चारित्रिक दुर्बलताओं के शिकार होकर अपने कर्त्तव्य-पथ से भटकने को रोकना है। प्लेटो साम्यवाद को समाज का आध्यात्मिक उत्थान करने का नकारात्मक मार्ग कहता है। वह इसे व्यक्ति के उत्थान का भौतिक साधन मानता है। प्लेटो का मानना है कि कांचन और कामिनी का मोह संरक्षक वर्ग को धनलोलुप, स्वार्थी और आस्क्त बना देता है। अत: संरक्षक वर्ग को अपने कर्त्तव्य पथ से विचलित होने से रोकना अति आवश्यक है। इसके लिएवह सम्पत्ति और पत्नियों का साम्यवाद का सिद्धान्त पेश करता है। इसके बारे में बार्कर ने कहा है- "साम्यवाद आत्मिक सुधार का केवल एक भौतिक व आर्थिक अनुपूरक साधन है, जिसे सर्वप्रथम तथा सर्वाधिक महत्त्व देते हुए प्लेटो लागू करना चाहता है।"

साम्यवाद का अर्थ

प्लेटो का मानना है कि सैनिक और शासकों के लिए आदर्श राज्य में न तो अपना परिवार या घर होना चाहिए न ही निजीसम्पत्ति। अपने इस उद्देश्य या विचार को सकारात्मक रूप देने के लिए प्लेटो ने जिस विस्तृत योजना का

निर्माण किया है, उसे ही प्लेटो का साम्यवाद या प्लेटो का साम्यवादी सिद्धान्त कहा जाता है। प्लेटो का कहना है कि संरक्षक या अभिभावक वर्ग के सदस्य विवाह करने और निजी परिवार बसाने के अधिकार से वंचित रहेंगे। पतियों, पत्नियों तथा बच्चों पर एक व्यक्ति या परिवार का अधिकार न होकर, सम्पूर्ण समाज या राज्य का अधिकार रहेगा। सभी को उसमें साँझा अधिकार प्राप्त होगा। अच्छी संतान या योग्य सन्तान पैदा करने के लिए योग्य पुरुष व स्त्री का संयोग कराया जाएगा, संरक्षक वर्ग के सदस्य निजी सम्पत्ति से भी वंचित रखे गए हैं। प्लेटो के अनुसार समस्त सम्पत्ति (चल व अचल) राज्य के नियन्त्रण में ही रहेगी। प्लेटो की योजना के अनुसार सभी सैनिकों व शासकों को (अभिभावक या संरक्षक वर्ग) बैरकों में रखना होगा और उन्हें साथ-साथ भोजन करना होगा। उत्पादक वर्ग अपनी पैदावार का कुछ हिस्सा उन्हें दे देगा ताकि उनकी अनिवार्य आवश्यकताएँ पूरी हो सकें। सामूहिकता की जीवन-व्यवस्था को प्लेटो ने पत्नियों व सम्पत्ति को साम्यवाद का नाम दिया है।

सम्पत्ति के साम्यवाद के पक्ष में तर्क

प्लेटो ने निम्न आधारों पर सम्पत्ति को साम्यवाद का समर्थन किया है :-

मनोवैज्ञानिक आधार: प्लेटो के अनुसार शासक और सैनिक आत्मा के विवेक और साहस तत्त्व का क्रमशः प्रतिनिधित्व करते हैं। इन तत्त्वों से प्रेरित होकर वे अपने निश्चित प्रतिनिधित्व करते हैं। इन तत्त्वों से प्रेरित होकर वे अपने निश्चित उत्तरदायित्वों को निभाना चाहते हैं, तो उन्हें क्षुधा रूपी निकृष्ट तत्त्व के जाल में नहीं फँसना चाहिए। निजी सम्पत्ति की व्यवस्था मनुष्य की उदार प्रवृत्ति पर विपरीत प्रभाव डालती है और व्यक्ति को स्वार्थी बनाती है। यदि दार्शनिक शासक व सैनिक वर्ग के लिए निजी सम्पत्ति की व्यवस्था स्वीकार की जाएगी तो उनमें भी स्वार्थ की वृद्धि होगी और क्रमशः उनका विवेक और साहस कुण्ठित हो जाएगा। सेबाइन के अनुसार- "शासकों को लालच से मुक्ति दिलाने का एक ही उपाय है कि उन्हें किसी चीज को अपना या निजी कहने के अधिकार से वंचित कर दिया जाए और यह उपाय प्लेटो की सम्पत्ति की व्यवस्था में ही सम्भव है।" अतः प्लेटो का सम्पत्ति का साम्यवाद आदर्श राज्य के लिए मनोवैज्ञानिक आवश्यक शर्त है।

राजनीतिक और व्यावहारिक आधार: प्लेटो का सम्पत्ति का सिद्धान्त दो आधारों पर राजनीतिक है। एक तो यह सिर्फ शासक व सैनिक वर्ग पर लागू

होता है, उत्पादक वर्ग पर नहीं। शासक वर्ग तक सीमित होने के कारण यह राजनीतिक है। दूसरा यह है कि शासन के ऊपर धन का बहुत बुरा प्रभाव पड़ता है। इस बुराई कोदूर करने के लिए प्लेटो अभिभावक वर्ग को सम्पत्ति के अधिकार से मुक्त करता है। प्लेटो के अनुसार जब राजसत्ता तथा निजी सम्पत्ति का संयोग हो जाता है तो राज्य का पतन हो जाता है। शासक वर्ग धन की लालसा के लिए सत्ता का दुरुपयोग करता है। अत: प्लेटो राजनीतिक अर्थ शक्ति के केन्द्रीयकरण को समाप्त करके शासक वर्ग को केवल राजनीतिक शक्ति देने के पक्ष में है। प्लेटो की यही व्यावहारिक मान्यता भी है और राजनीतिक अनिवार्यता। यदि शासकों को व्यक्तिगत सम्पत्ति की छूट दी जाए तो शासक वर्ग भ्रष्ट होकर आदर्श राज्य को धनिकतन्त्र में बदल देगा। इस सम्बन्ध में सेबाइन ने लिखा है- "जहाँ तक सैनिकों व शासकों का सम्बन्ध है, प्लेटो को शासन के ऊपर धन के बुरे प्रभावों के बारे में इतना दृढ़ विश्वास था कि इस दोष को मिटाने के लिए उसे स्वयं सम्पत्ति के नाश के अतिरिक्त कोई रास्ता दिखाई नहीं दिया।"

नैतिक आधार: प्लेटो इस बात में विश्वास नहीं करता कि व्यक्ति का अस्तित्त्व मात्र स्वार्थ सिद्धि के लिए है, उसके अनुसार कर्त्तव्यों का पूर्ण निष्ठा के साथ सम्पादन कर, अपने योग्य कार्य-क्षेत्र की सीमा में रहकर एवं समष्टि के एक अभिन्न अंग के रूप में अपने अस्तित्त्व को स्वीकार करके ही व्यक्ति अपने जीवन को सार्थक बना सकता है। प्लेटो का सिद्धान्त व्यक्ति को विवेकी व निस्वार्थी बनाकर कर्त्तव्यों का सम्पादन करने पर जोर देता है।

दार्शनिक आधार– प्लेटो का सम्पत्ति का साम्यवादी सिद्धान्त दार्शनिक आधार पर भी उचित है। प्लेटो ने इसे कार्य विशिष्टीकरण के आधार पर सही ठहराया है। प्लेटो का कहना है कि जिन लोगों के ऊपर शासन का भार है, उनकी जीवन-शैली विशिष्ट होनी चाहिए। यह शैली कार्य विशेष के आधार पर ही होनी चाहिए। शासक वर्ग को उच्चादर्शों को प्राप्त करने के लिए सांसारिक प्रलोभनों से मुक्त होना चाहिए। प्लेटो का कहना है कि जिन व्यक्तियोंपर शासन का भार है, उन्हें अपने कार्य में बाँधा या विघ्न उत्पन्न करने वाले सभी सांसारिक तत्त्व से उसी प्रकार बचना चाहिए जिस प्रकार ईश्वर की भक्ति में लगे एक साधक या संन्यासी को घर, पानी, बच्चे, सम्पत्ति या सांसारिक मोह-माया से दूर रहना चाहिए।

सम्पत्ति के साम्यवाद के उद्देश्य

प्लेटो की सम्पत्ति की योजना के प्रमुख उद्देश्य है:-

सार्वजनिक हित के लिए: प्लेटो का दार्शनिक राजा सार्वजनिक हित में शासन करता है। वह सैनिक वर्ग व उत्पादक वर्ग पर सार्वजनिक हित के ही सन्दर्भ में कठोर नियन्त्रण रखता है।

अभिभावक वर्ग के लिए कार्यकुशलता: सम्पत्ति के साम्यवाद की योजना सैनिक वर्ग तथा शासक वर्ग को आर्थिक चिन्ताओं से मुक्त करती है और वह अपना समस्त समय व ध्यान अपनी कार्यकुशलता की वृद्धि में लगा सकते हैं।

राज्य की एकता के लिए: जब शासक वर्ग के पास निजी सम्पत्ति होती है तो शासक वर्ग में सम्पत्ति को लेकर आपसी प्रतियोगिता व ईर्ष्या भी होती है और इससे राज्य को एकता को भय उत्पन्न हो जाता है। किन्तु सम्पत्ति को साम्यवादी योजना शासक वर्ग में इस प्रकार का भय उत्पन्न नहीं होने देती और यह राज्य की एकता की रक्षक सिद्ध होती है।

सामाजिक भ्रातृभाव के लिए: प्लेटो का सम्पत्ति का साम्यवाद संरक्षक वर्ग को साधुवादी प्रवृत्ति अपनाने की सलाह देता है। सम्पत्ति पर किसी एक का अधिकार न होकर सम्पूर्ण समाज का अधिकार होगा। इससे किसी के पास कम या अधिक सम्पत्ति संचय करने की भावना पैदा नहीं होगी। सम्पत्ति का साम्यवाद लोगों में भ्रातृभाव की भावना को जन्म देगा।

सम्पत्ति के साम्यवाद की आलोचनाएँ

प्लेटो के सम्पत्ति सम्बन्धी साम्यवाद की सेबाइन, बार्कर, पोपर व अरस्तू द्वारा अनेक आलोचनाएँ की गई हैं :-

(क) अरस्तू द्वारा की गई आलोचनाएँ

यह धारणा मानवीय प्रकृति की मूलभूत प्रवृत्तियों की अवहेलना करती है। प्रत्येक मानव में निजी सम्पत्ति प्राप्त करना उसकी स्वाभाविक प्रवृत्ति है और अगर उसे इस अधिकार से वंचित रखने की कोशिश की जाती है तो यह उसकी प्रकृति के प्रतिकूल बात होगी।

अरस्तू साम्यवाद को जीवन के सामान्य अनुभव के विरुद्ध मानता है।

अरस्तू का यह भी कहना है कि सम्पत्ति की साँझी व्यवस्था कभी भी सामाजिक कल्याण में वृद्धि नहीं कर सकती।

अरस्तू का यह भी कहना है कि वैयक्तिक सम्पत्ति की प्रथा का विकास हमारी सभ्यता के विकास का प्रतीक है। वैयक्तिकसम्पत्ति का अभाव प्रगति के मार्ग को रोकता है।

इससे परोपकार और उदारता की श्रेष्ठ मानवीय सम्भावनाएँ नष्ट हो जाएँगी क्योंकि व्यक्ति परोपकार सम्बन्धी कार्य निजीसम्पत्ति के आधार पर ही करता है।

अरस्तू ने यह विचार प्रस्तुत किया है कि यह अधिक अच्छा होगा कि सम्पत्ति निजी हो परन्तु उसका प्रयोग सामूहिक हो।इससे राज्य तथा व्यक्ति दोनों का भला हो सकता है।

व्यक्तिगत सम्पत्ति के लिए उत्साह और लगन के कारण ही मनुष्य दूसरों के साथ प्रतियोगिता करता है तथा अपने सर्वोत्तमगुणों का विकास करता है परन्तु निजी सम्पत्ति के न होने पर ऐसा नहीं होगा।

प्लेटो की यह योजना बहुमत को शामिल नहीं करती है और इसलिए यह असफल होकर रहेगी तथा इससे राज्य में विभाजन होगा तथा फूट, ईर्ष्या व कलह की सम्भावना प्रबल होगी।

अरस्तू का मानना है कि बिना सम्पत्ति के अभिभावक वर्ग सुखी नहीं रहेगा और जिस राज्य में शासक वर्ग ही सुखी नहीं रहेगा उसमें भला प्रजा कैसे सुखी रह सकती है। अत: प्लेटो का साम्यवादी राज्य एक दु:खपूर्ण राज्य होगा।

राज्य में एकता को उचित शिक्षा द्वारा ही बढ़ाया जाना चाहिए, साम्यवाद से नहीं। प्लेटो स्वयं आत्मिक उपाय को भौतिक उपाय से अधिक महत्त्व देते हैं। अत: साम्यवाद एक गौण उपाय है।

प्लेटो आवश्यकता से अधिक एकता लाने की प्रवृत्ति पर कायम है। वह राज्य की वेदी पर व्यक्तियों की इच्छाओं का बलिदान कर देता है।

(ख) अन्य विद्वानों द्वारा की गई आलोचनाएँ

सद्‌गुणों के विकास में बाधक:निजी सम्पत्ति की व्यवस्था अनेक सद्‌गुणों के विकास में सहायक होती है, जैसे दान, दया, परोपकार, अतिशय आदि के सद्‌गुण। किन्तु प्लेटो ने निजी सम्पत्ति के अवगुणों की ओर ध्यान न देकर संरक्षक वर्ग को इससे वंचित कर दिया है, जो अनुचित है।

मानव स्वभाव के प्रतिकूल: प्लेटो ने निजी सम्पत्ति का अन्त करके मानव स्वभाव के विपरीत कार्य किया है। सम्पत्ति अर्जित करना मानव की स्वाभाविक प्रवृत्ति है। इससे व्यक्ति के अनेक उदार गुण विकसित होते हैं। अत: प्लेटो ने मानव स्वभाव के विपरीत कार्य किया है।

न्यायपूर्ण वितरण की समस्या: निजी सम्पत्ति के अभाव में यह बताना कठिन होगा कि किस व्यक्ति का समाज में कितना योगदान है। इससे न्यायपूर्ण

वितरण की अनेक समस्याएँ खड़ी होंगी जो समाज की एकता को नष्ट कर देंगी।

व्यक्ति की प्रेरणा शक्ति का ह्रास: निजी सम्पत्ति के समर्थकों का मानना है कि सम्पत्ति का आकर्षण व्यक्ति को अधिक से अधिक कार्य करने की प्रेरणा प्रदान करता है। इसी प्रेरणा से व्यक्ति अनेक नए-नए आविष्कार करता है, परिश्रम करता है। इसके अभाव में प्रेरणादायक शक्ति का ह्रास हो जाएगा।

अमनोवैज्ञानिक: निजी सम्पत्ति की संख्या मानव स्वभाव के अनुकूल है। व्यक्ति सम्पत्ति अर्जन करने के लिए ही सारे क्रियाकलाप करता है। प्लेटो अभिभावक वर्ग को इससे वंचित करके मानव प्रकृति के विरुद्ध चला जाता है। अत: प्लेटो का सम्पत्ति का सिद्धान्त अमनोवैज्ञानिक है।

अर्ध-साम्यवाद: प्लेटो सम्पूर्ण सामाजिक इकाई की बजाय एक वर्ग विशेष को ही इस व्यवस्था में शामिल करता है। प्लेटो का साम्यवाद केवल शासक और सैनिक (संरक्षक) वर्ग के लिए ही है। अगर व्यक्तिगत सम्पत्ति मतभेद, अनेकता, लोभ व मोह को जन्म देती है तो उत्पादक वर्ग को इसका अधिकार देना विवेकपूर्ण नहीं है।

मानव स्वतन्त्रता की बलि चढ़ाना: प्लेटो ने साम्यवाद के नाम पर मानव-स्वतन्त्रता का दमन किया है। प्लेटो की साम्यवाद व्यवस्था में केवल वही कार्य करने का अधिकार होगा जो राज्य चाहेगा। प्लेटो ने व्यक्ति को एक साधन मात्र मानकर व्यक्ति के अधिकार व स्वतन्त्रताओं पर कुठाराघात किया है।

सम्पत्ति से वंचित शासकों की कठिनाइयाँ: प्लेटो के संरक्षक वर्ग के सदस्य व्यक्तिगत सम्पत्ति से सम्बन्धित समस्याओं और प्रेरणाओं के ज्ञान से भी वंचित रहेंगे जिसके कारण उन्हें साधारण लोगों की सम्पत्ति से जुड़ी समस्याओं का निपटारा करने में अनेक समस्याओं का सामना करना पड़ेगा। शासक उत्पादक वर्ग की व्यक्तिगत सम्पत्ति को तभी नियन्त्रित कर सकता है, जबकि वह स्वयं निजी सम्पत्ति के गुण-दोषों के बारे में ज्ञान रखता हो।

आध्यात्मिक रोगों के लिए भौतिक उपचार अनुचित: प्लेटो ने आध्यात्मिक रोगों को रोकने के लिए कोई आध्यात्मिक औषधि न ढूँढकर भौतिक साधनों का सहारा लिया है। संसार की भौतिक वस्तुएँ आध्यात्मिक वस्तुओं के साथ लगी हुई हैं, जिनके निराकरण से यदि बुराई दूर होती है तो उनके द्वारा जो हित होता है, वह भी दूर हो जाएगा। भौतिकतर आध्यात्मिकता

का आधार है और उसके लिए साधन भी। भौतिकता को दूर करने का तात्पर्य होगा इन साधनों का अन्त।

तपस्यात्मक: सम्पत्ति के साम्यवाद की योजना सार्वजनिक हित के नाम पर अभिभावक वर्ग को सम्पत्तिहीन रखती है और सम्पत्ति सम्बन्धी स्वतन्त्रता का अन्त करती है तथा तपस्वी का जीवन व्यतीत करने पर बाध्य करती है। प्लेटो के साम्यवाद में व्यक्ति का जीवन त्याग का जीवन है, भौतिक सुखों का भोग नहीं। प्लेटो का साम्यवाद साधुवादी है जिसमें राज्य के श्रेष्ठ व्यक्ति आर्थिक सुख-सुविधाओं का त्याग करते हैं। अत: साम्यवाद तपस्यात्मक है।

दास-प्रथा का जिक्र नहीं: प्लेटो ने अपने व्यक्तिगत सम्पत्ति के सिद्धान्त में दास-प्रथा जैसे महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त की चर्चा नहीं की है। प्लेटो ने किसी ऐसे कार्य का उल्लेख नहीं किया है जो दासों द्वारा किया जाए। प्लेटो का दास-प्रथा को महत्त्वहीन समझना उसे स्वयं को ही महत्त्वहीन बना देता है।

सम्पत्ति पर एक पक्षीय विचार: प्लेटो सम्पत्ति के अवगुणों के आधार पर ही अपने सम्पत्ति के साम्यवादी सिद्धान्त को खड़ा करता हैं उसने सम्पत्ति के गुणों की अनदेखी करने की भारी भूल की है। अनेक आलोचनाओं के बावजूद यह मानना ही पड़ेगा कि प्लेटो का सम्पत्ति का साम्यवादी सिद्धान्त व्यावहारिक, तर्कपूर्ण एवं उपयोगी है। यह उनके न्याय सिद्धान्त का तर्कसंगत निष्कर्ष है। सम्पत्ति का लालच समाज में भ्रष्टाचार व अराजकता को जन्म देता है। आज के सामाजिक वैमनस्य के लिए सम्पत्ति की चाह ही जिम्मेदार हैं प्लेटो ने तत्कालीन एथेन्स की सामाजिक बुराइयों को बहुत करीब से देखा था और उन दोषों को दूर करने के लिए उसने अपना यह सिद्धान्त खड़ा किया। यद्यपि उसकी कुछ आलोचनाएँ तर्कपूर्ण हैं लेकिन आज भी यह निर्विवाद रूप से सत्य है कि प्लेटो का साम्यवादी सिद्धान्त बहुत महत्त्वपूर्ण देन है।

पत्नियों का साम्यवाद

प्लेटो अपनी पुस्तक रिपब्लिक में संरक्षक वर्ग के लिए केवल निजी सम्पत्ति को ही निषिद्ध नहीं करता अपितु परिवर की संस्था को समाप्त कर अपनी पत्नियों की साम्यवादी योजना भी प्रस्तुत करता है। प्लेटो के न्याय सिद्धान्त पर आधारित एक आदर्श के निर्माण के लिए सम्पत्ति के साम्यवाद के साथ ही परिवार का साम्यवाद भी जरूरी है। प्लेटो परिवार व सम्पत्ति में घनिष्ठ सम्बन्ध मानता है। वस्तुत: परिवार का साम्यवाद की योजना उसके सम्पत्ति के

ही साम्यवाद का तार्किक विस्तार है। प्लेटो का मानना है कि यदि पारिवारिक संस्था का अन्त किए बिना ही व्यक्तिगत सम्पत्ति के उन्मूलन का प्रयास निरर्थक होगा। विवाह और परिवार भी निजी सम्पत्ति के ही रूप हैं और इससे लालच और ईर्ष्या को बढ़ावा मिलता है। अत: उद्देश्य की दृष्टि से साम्यवाद के ये दोनों प्रकार एक-दूसरे के सहायक व पूरक हैं। प्लेटो के परिवार या पत्नियों के साम्यवाद के महत्त्व पर बार्कर लिखता है- "परिवार की समाप्ति का दिन राज्य के लिए एकता व व्यक्ति के लिए स्वतन्त्रता तथा इन दोनों के लिए न्याय की शुरुआत का दिन होगा।"

पत्नियों के साम्यवाद के पक्ष में तर्क

राजनीतिक आधार: प्लेटो चाहता था कि स्त्रियाँ घर की चारदीवारी की कैद से मुक्त होकर राज्य के शासन सम्बन्धी कार्यों में भाग ले। नारियों के योगदान के बिना राज्य अपने आधे भावी संरक्षकों से वंचित रह जाता है। वह स्त्री-पुरुष में कोई भेद स्वीकार नहीं करता। उसका मानना है कि ऐसा कोई भी प्रशासनिक कार्य नहीं है जो स्त्री न कर सके। वह केवल लिंग-भेद को ही स्वीकार करता है, परन्तु इसे शासन क्रियाओं में बाधक नहीं मानता है। प्लेटो का मानना है कि स्त्रीयाँ राजनीतिक, प्रशासनिक और सैनिक कार्यों में भाग ले सकती हैं और अपना कर्त्तव्य उचित प्रकार से निभा सकती हैं। इस लिए प्लेटो परिवार की कैद से उन्हें मुक्ति दिलाना चाहता है।

नैतिक आधार– प्लेटो का मानना है कि परिवार व सम्पत्ति का मोह शासक वर्ग को भ्रष्ट बना देता है। पारिवारिक स्नेह-बंधन का कारण होता है। संतान की चिन्ता व्यक्ति को स्वार्थी बनाकर पथ भ्रष्ट करती है। परिवारों के मोह के कारण शासक अनुचित नीतियों का पालन करते हैं। इससे शासक वर्ग के विभिन्न परिवारों में भी संघर्ष उत्पन्न होता है। यह राज्य की एकता के लिए भय को पैदा करता है। परिवार राज्य की एकता में महान् बाधक होता है। शासक व सैनिक वर्ग परिवार के प्रति अनुरक्त होकर राज्य के प्रति अपने कर्त्तव्यों की अवहेलना कर सकते हैं। अत: प्लेटो नैतिक आधार पर इस साम्यवाद का समर्थन करता है।

सुप्रजनन का आधार–प्लेटो तत्कालीन वैवाहिक प्रथा और पारिवारिक व्यवस्था पर कुठाराघात करता है। उस समय मनुष्य लापरवाही से संभोग करके पशु-पक्षियों की तरह अवैध सन्तानों को जन्म देते थे जो राज्य के हित में किसी

भी दृष्टि से उपयोगी नहीं होती थी। राज्य में कुरूप व अयोग्य सन्तानों का अम्बार लगा हुआ था। प्लेटो ने इस समस्या से निजात दिलाने के लिए महसूस किया कि आदर्श राज्य के लिए श्रेष्ठ नागरिक जरूरी हैं। इसके लिए योग्य पुरुष व स्त्रियों का ही सहवास होना आवश्यक है ताकि श्रेष्ठ सन्तान ही जन्म ले। प्लेटो संरक्षक या अभिभावक वर्ग को ही इसके योग्य समझकर इस वर्ग के स्त्री पुरुषों में अस्थायी विवाह सम्बन्ध द्वारा सन्तानोत्पत्ति आवश्यक मानता है। परन्तु वह इसमें यह सावधानी रखता है कि स्त्रियों व पुरुषों के जोड़े उनकी आयु व गुण को ध्यान में रखकर ही बनाए जाएं ताकि श्रेष्ठ सन्तान का जन्म हो।

पत्नियों के साम्यवाद का स्वरूप औरा उसकी व्याख्या

राज्य-परिवार का स्वरूपः प्लेटो ने संरक्षक वर्ग के निजी परिवार का उन्मूलन कर राज्य-परिवार का समर्थन किया है। उसके समक्ष नारी सुधार की समस्या थी और साथ ही राज्य के लिए अच्छी-से-अच्छी सन्तान उत्पन्न करना चाहता था। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए उसने संरक्षक के निजी परिवार का उन्मूलन किया और एक राज्य-परिवार का रूप चित्रित किया।

यौन-सम्बन्धः प्लेटो ने उस समय की वैवाहिक प्रथा के दोषों को दूर करने के लिए, अपने आदर्शके निर्माण के लिए यौन-सम्बन्धों में पत्नियों के साम्यवाद के माध्यम से सुधार करने का प्रयास किया है। संरक्षक वर्गभी अपनी निजी पत्नी नहीं रख सकेगा। सभी का समाजीकरण कर दिया जाएगा। वे एक साथ बैरकों में रहेंगे और एकसाथ खाना खाएँगे। प्लेटो को विश्वास है कि परिपक्व व श्रेष्ठ नर-नारी ही श्रेष्ठ संतान को जन्म दे सकते हैं। जिन स्त्री-पुरुषों ने सार्वजनिक सेवा के कार्य या युद्ध में श्रेष्ठता दिखाई है, उसे अधिक सन्तान पैदा करने की छूट प्राप्त होगी। स्त्री व बच्चे सामाजिक होंगे न कि किसी एक व्यक्ति के।

राज्य बच्चों के पालन-पोषण का पूरा ध्यान रखेगाः प्लेटो के अनसार बच्चों के जन्म के बाद उनके पालन-पोषण का उत्तरदायित्व राज्य अपने ऊपर लेगा। बच्चों को शिशु-गृहों में रखा जाएगा। माताएँ बच्चों को राज्य की देख-रेख में दूध पिलाएँगी, परन्तु उन्हें अपने बच्चों का कोई भी निजी ज्ञान नहीं होगा, बच्चों को भी अपनी माँ का कोई ज्ञान नहीं होगा।

बच्चा पैदा करने की आयुः प्लेटो के अनुसार स्त्रियों को 20 से 40 वर्ष तक तथा पुरुषों को 25 से 55 वर्ष तक सन्तान पैदा करने की छूट होगी। इस समय स्त्री व पुरुष परिपक्व होते हैं। उनके इस आयु में सहवास से यौगय

सन्तान ही पैदा होगी। राज्य केवल श्रेष्ठ स्त्री-पुरुष के सहवास से उत्पन्न सन्तान का ही लालन-पालन करेगा, निकृष्ट स्त्री-पुरुषों के संभोग से उत्पन्न सन्तान का पालन-पोषण राज्य नहीं करेगा। राज्य के नियमों के विरुद्ध जो सन्तान पैदा होगी, उसे या तो राज्य नहीं पालेगा या उसे किसी अज्ञात एवं अंधकारमय जगह में गाड़ दिया जाएगा या जन्म लेने से पूर्व ही गर्भपात द्वारा नष्ट कर दिया जाएगा।

सम्बन्धों का ज्ञानः प्लेटो कहता है कि संरक्षक वर्ग के अन्तर्गत आने वाले बच्चे सामुदायिक जीवन के भागीदार होंगे और इस सामुदायिक जीवन में उनके सम्बन्ध भी सामुदायिक होंगे। पुरुष उन सभी बच्चों को अपना पुत्र या पुत्री समझेगाजो उनके वर बनने के मास से लेकर 10 वें मास तक पैदा होते हैं और वे स्त्री बच्चे उस पुरुष को पिता समझेंगे। वहइन बच्चों की सन्तानों को पौत्र कहेगा और वे समुदाय के पुरुषों व स्त्रियों को दादा-दादी कहेंगे तथा वे सब बच्चे जोकि एक माता-पिताओं के समुदाय के प्रजनन काल में उत्पन्न हुए हैं एक दूसरे को भाई-बहिन मानेंगे।

असमानताएँ

प्लेटो के साम्यवाद व आधुनिक साम्यवाद में बहुत सी असमानताएँ हैं जिनके आधार पर उसके प्रथम साम्यवादी होने के विचार का खण्डन किया गया है। वे आधार हैं :-

अर्ध साम्यवाद और पूर्ण साम्यवाद– प्लेटो का साम्यवाद सारे समाज पर लागू न होकर केवल संरक्षक वर्ग तक ही सीमित है। प्लेटो ने उत्पादक वर्ग को अपनी इस व्यवस्था से पूर्णतया बाहर रखकर अपने अर्ध-साम्यवादी होने का ही परिचय दिया है। आधुनिक साम्यवाद पूरे समाज के लोगों पर समान रूप से लागू होता है लेकिन इसमें परिवार का साम्यवाद शामिल नहीं है। आधुनिक साम्यवाद समाज के हर वर्ग को अपने में समेटकर चलता है। अतः दोनों में अन्तर है।

संन्यासवाद और भौतिकवादः प्लेटो का साम्यवाद वास्तव में तपस्यात्मक है। प्लेटो शासकों को भौतिक सुख साधनों से विरक्त बनाता है। बार्कर के शब्दों में-"यह समर्पण का मार्ग है और उस समर्पण की माँग सर्वोत्तम और केवल सर्वोत्तम व्यक्ति से ही की गई है।" प्लेटो ने संरक्षक वर्ग को समस्त सम्पत्ति से वंचित कर दिया है क्योंकि वह निजी सम्पत्ति को सार्वजनिक कल्याण के कर्त्तव्य-पालन में एक बाधा मानता है। आधुनिक साम्यवाद की आधार शिला

भौतिकता है। आधुनिक साम्यवाद भौतिक सुख-साधनों में वृद्धि को ही अपना लक्ष्य श्मानता है। आधुनिक साम्यवाद सम्पत्ति की वांछनीयता को स्वीकार करते हुए उसके वितरण पर बल देता है। अत: प्लेटो के साम्यवाद में न्याय का तात्पर्य कार्यों का यथोचित वितरण है तो आधुनिक साम्यवाद के सन्दर्भ में राज्य के उत्पादन का न्यायोचित वितरण।

राजनीतिक उद्देश्य और आर्थिक उद्देश्य: प्लेटो के साम्यवाद का लक्ष्य राजनीतिक है क्योंकि वह विशेष प्रकार की आर्थिक योजना के आधार पर राज्य में कुशासन तथा भ्रष्टाचार को समाप्त कर अच्छे शासन की स्थापना करना चाहता है। प्लेटो का उद्देश्य राजनीतिक स्थिरता पैदा करता है। आधुनिक साम्यवाद का प्रमख लक्ष्य आर्थिक है। आधुनिक साम्यवादी विशेष प्रकार की राजनीतिक व्यवस्था के आधार पर आर्थिक साधनों का न्यायपूर्ण वितरण करना चाहते हैं। अत: एक का लक्ष्य राजनीतिक है तो दूसरे का आर्थिक।

सवर्ग समाज और वर्गहीन समाज: प्लेटो के साम्यवाद में वर्गों काअस्तित्त्व है जिनके कार्यों की विशिष्टता द्वारा राज्य की एकता में वृद्धि की जाती है। आधुनिक साम्यवाद में वर्ग विहीन समाज की स्थापना की बात की जाती है। इसमें वर्गों का कोई महत्त्व नहीं है।

पारिवारिक साम्यवाद के सम्बन्ध में भेद: प्लेटो की साम्यवादी व्यवस्था में सम्पत्ति के साम्यवाद के साथ-साथ पत्नियों के साम्यवाद की भी व्यवस्था की गई है। किन्तु आधुनिक साम्यवाद में इस प्रकार की किसी व्यवस्था का प्रतिपादन नहीं किया गया है।

नगर राज्यों और अन्तरराष्ट्रीय का भेद: प्लेटो का साम्यवाद यूनान के छोटे-छोटे नगर-राज्यों को ध्यान में रखकर प्रतिपादित किया गया है। प्लेटो ने कभी विश्व व्यवस्था की बात नहीं की। अत: उनका साम्यवाद क्षेत्रवाद पर ही आधारित है। कार्लमार्क्स सम्पूर्ण विश्व के आर्थिक व राजनीतिक घटना चक्र को ध्यान में रखते हुए अपने साम्यवादी सिद्धान्त की रचना की है। वे समस्त विश्व की एकता में विश्वास रखते हैं। अत: आधुनिक साम्यवाद विश्व स्तरीय है।

साम्यवाद में दार्शनिक शासकों की भूमिका में अन्तर—प्लेटो के साम्यवाद में शासन का संचालन दार्शनिक शासक के नेतृत्व में होगा और सामान्य नागरिक उसका अनुसरण करेंगे, जबकि आधुनिक साम्यवाद में दार्शनिक राजा का कोई स्थान नहीं। मजदूरों का साम्यवादी दल तानाशाही से सम्पूर्ण शासन-व्यवस्था पर नियन्त्रण रखता है।

साधन सम्बन्धी अन्तर: प्लेटो ने अपने साम्यवाद की स्थापना के लिए किसी साधनका वर्णन नहीं किया है। आधुनिक साम्यवादी क्रान्ति या दूसरे हिंसात्मक साधनों के प्रयोग द्वारा साम्यवाद की स्थापना करने की बात कहते हैं।

वर्गों की संख्या में अन्तर: प्लेटो ने समाज में तीन वर्ग-दार्शनिक , सैनिक तथा उत्पादक का वर्णन किया है, जबकि मार्क्स ने पूंजीपति व सर्वहारा वर्ग की ही व्याख्या की है। अत: प्लेटो के अनुसार समाज में तीन तथा आधुनिक साम्यवादी दो वर्गों की बात करते हैं।

श्रमिक वर्ग की महत्ता के सम्बन्ध में अन्तर: प्लेटो के साम्यवाद में श्रमिक वर्ग को कोई महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त नहीं है, जबकि आधुनिक साम्यवाद में श्रमिक वर्ग कोही क्रान्ति का आधार माना गया है। आधुनिक साम्यवादी दर्शन तो श्रमिक वर्ग के इर्द-गिर्द ही घूमता है।

व्यावहारिक एवं अव्यावहारिक: प्लेटो का साम्यवाद पूर्णत: अव्यावहारिक है और इसे व्यवहार में कभी भी लागू नहीं कियाजा सकता। आधुनिक साम्यवाद के बारे में ऐसा नहीं कहा जा सकता, क्योंकि आधुनिक साम्यवाद अनेक देशों में व्यावहारिक रूप में लागू हुआ है। यद्यपि यह रूस में तो असफल रहा लेकिन चीन में इसका अब भी अस्तित्त्व है। अत: प्लेटो के साम्यवाद की तुलना में आधुनिक साम्यवाद अधिक व्यावहारिक है।

परिस्थितियों सम्बन्धी अन्तर: प्लेटो का साम्यवाद 5 वीं शताब्दी को एथेन्स की परिस्थितियों की उपज है, जबकि आधुनिक साम्यवाद 19 वीं सदी में ब्रिटेन में उत्पन्न औद्योगिक क्रान्ति कापरिणाम है।

इस प्रकार अनेक असमानताओं के आधार पर टेलर का कथन उचित है- "रिपब्लिक में समाजवाद तथा साम्यवाद के बरे में बहुत कुछ कहे जाने के बावजूद वास्तव में इस ग्रन्थ में न तो समाजवाद है और न ही साम्यवाद।" इसलिए प्लेटो को प्रथम साम्यवादी मानना सर्वथा गलत है। प्लेटो में ऐसा कोई विशेष तत्त्व नहीं है, जो आधुनिक साम्यवाद से मेल खाता हो।

4

रूसो

जीन-जक्कुएस रूसो का जन्म 28 जून, 1712 ई0 को स्विटजरलैंड के जेनेवा नामकन गर में एक सम्मानित परिवार में हुआ था। उसके पिता एक फ्रांसिसी घड़ीसाज थे। जन्म के तुरन्त बाद रूसो की माता का देहान्त हो गया। उसकी देखभाल उसकी चाची ने की जो लापरवाह थी। उसके पिता और भीला परवाह थे। वे व्यर्थ के उपन्यास पढ़ते थे- रूसो को इन उपन्यासों से कल्पना, संवेदना एवं बचपन में ही अधकचरी प्रौढ़ता मिली। इस तरह से रूसो ने स्वच्छन्द जीवन बिताना शुरू कर दिया। निरूद्देश्य इधर-उधर भ्रमण करने के दौर में वह स्विटजरलैंड के प्राकृतिक सौन्दर्य से काफी प्रभावित हुआ। इसका अमिट प्रभाव उसके जीवन पर पड़ा। साथ ही स्वच्छन्दता के दौर में वह बुरी संगति में आया और कई दुर्गुण उसके व्यक्तित्त्व में आ गए। चचेरे भाई के साथ उसने कुछ दिनों तक लैटिन सीखने का प्रयत्न किया पर जो कुछ सीखा वह अव्यवस्थित एवं खंडित ज्ञान था। बारह वर्ष की अवस्था में रूसो घर से भागकर छोटी-मोटी नौकरी करने लगा। कुछ दिनों तक एक स्वच्छन्द, पर आकर्षक महिला मैडम वारेन्स के साथ सेवाय में रहा। बाद में थेरेस लीवेस्योर नामक महिला से विवाह कर वह पेरिस में आ बसा। यहाँ यह तथ्य महत्वपूर्ण है कि यायावरी के इन दिनों का रूसो के विचारों एवं कार्यों पर अमिट प्रभाव पड़ा। इस उद्देश्यहीन जीवन के संदर्भ में ग्रेब्ज ने उचित ही लिखा है- ''जो दिन रूसो ने घुमक्कड़ी में बिताया, उन्हीं में उसके मस्तिष्क एवं

हृदय पर प्रकृति प्रेम की अमिट छाप पड़ी। इन्हीं दिनों निर्धनों और शोषितों के प्रति उसके हृदय में सहानुभूति की लहर पैदा हुई।''

अठारहवीं शताब्दी के मध्य में फ्रांस में फैली हुई सामाजिक विषमताओं, नैतिक आडम्बरों और व्यर्थ के ऐश्वर्य प्रदर्शनों से रूसो का विश्वास तत्कालीन सामाजिक व्यवस्था से उठ गया। इस बीच उसने मिल्टन, लॉक, हॉब्स जैसे प्रसिद्ध दार्शनिकों की पुस्तकों का अध्ययन किया। फ्रांस की सामाजिक-राजनीतिक स्थिति, रूसो के अपने अनुभव तथा इन विद्वानों की कृतियों के सम्मिलित प्रभाव से रूसो के विचारों में क्रांतिकारी परिवर्तन आया। रूसो को सर्वप्रथम तब प्रसिद्धि प्राप्त हुई जब उसने डिजान एकेडमी की निबन्ध प्रतियोगिता में 1750 ई0 में ''हेज दि प्रोग्रेस ऑफ साइन्सेज एण्ड आर्ट्स कन्ट्रिब्यूटेड टू करप्ट ऑर प्यूरिफाय मोरेलिटी?'' (विज्ञान और कला की प्रगति का परिणाम नैतिकता में वृद्धि या गिरावट है?) रूसो का उत्तर था विज्ञान और कला की प्रगति से नैतिकता में गिरावट आई है। इस निबन्ध के कारण कल तक का भटकता इन्सान अनायास ही प्रसिद्ध हो गया। तीन वर्षों बाद पुनः इसी एकेडमी में ''मानवों में असमानता के कारण तथा यह प्राकृतिक नियम द्वारा स्वीकृत है या नहीं?'' (वाट इज दि ऑरिजिन ऑफ इन इक्वेलिटीएमंग मेन एण्ड इज इट आउथराइजिड बाय नेचुरल लॉ?) पर दूसरा निबन्ध सम्पूर्ण यूरोप में प्रसिद्ध हो गया। इस उपन्यास से वह एक महान प्रकृतिवादी दार्शनिक के रूप में स्थापित हो गया जिसने तत्कालीन सामाजिक संस्थाओं का विरोध किया।

रूसो अपनी महत्वपूर्ण रचनाओंः 'दि न्यू हेल्वायज', 'दि एमिल' तथा 'दि कॉनफेसन्श' के कारण एक महान दार्शनिक के रूप में प्रतिष्ठित तो हुआपर उसके जीवन के अन्तिम दिन कष्टों में बीते। वह अपमानित हो इंग्लैंड,जेनेवा तथा फ्रांस में भागता फिरता रहा। अंततः 1778 ई. में फ्रांस में उसकी मृत्यु हुई। 1789 ई0 में फ्रांस की क्रांति प्रारम्भ हुई। फ्रांस की क्रांति का एक महत्वपूर्ण कारक रूसो के क्रांतिकारी विचार थे। नेपोलियन ने ठीक ही कहा था– ''रूसो के बिना फ्रांस की क्रांति संभव नहीं थी।'' रूसो को न केवल एक दार्शनिक के रूप में ही वरन् महान क्रांतिकारी के रूप में भी प्रतिष्ठा प्राप्त हुई।

रूसो की प्रमुख रचनायें

रूसो की प्रमुख रचनायें निम्नलिखित हैं:-'दि प्रोगेस ऑफ साइन्सेज एण्ड आर्ट्स, 'दि ऑरिजिन ऑफ इनइक्वेलिटीएमंग मेन', 'डिस्कोर्स ऑन पोलिटिकल

इकोनॉमी', 'दि न्यू हेल्वायज', 'दिसोशल कॉन्ट्रेक्ट', 'दि एमिल', 'कन्सीडरेसन ऑन दि गवर्नमेन्ट ऑफ पोलैण्ड','दि कॉनफेसन्श' आदि।

शिक्षा की दृष्टि से रूसो की सर्वप्रसिद्ध रचना एमिल है जिसमें उसनेएमिल नाम के एक काल्पनिक बालक को शिक्षा देने की प्रक्रिया का वर्णनकिया है। यद्यपि रूसो का शिक्षा सम्बन्धी विचार एमिल तक ही सीमित नहींहै पर रूसो का मूल्यांकन एमिल के आधार पर ही होता है। लार्ड मारले नेइस कार्य के बारे में कहा ''साहित्य के इतिहास में यह एक कालजयी रचनाहै। यह चरित्र की गहराइयों को छूता है। यह माता-पिता में आत्मसम्मान काभाव भरता है और उनके कार्य को स्पष्ट करता है। यह जमा दुराग्रहों कोखत्म करता है। इसने नर्सरी एवं विद्यालयों की कक्षाओं में- जिनके दरवाजेएवं खिड़कियां बन्द रहीं हैं- प्रकाश एवं शुद्ध हवा भर दिया।'' फ्रेडरिकामेकडोनाल्ड ने भी कहा कि शिक्षा के क्षेत्र में चल रहे अमानवीय सिद्धान्तों एवंकार्यों को एमिल ने गहरी चोट पहुँचाई। पेस्टालॉजी और फ्रोबेल के काफीपहले रूसो ने आधुनिक शिक्षा पद्धति की नींव रखी। अध्यापकों और माता-पिताको जीवन के प्रभात बेला में ही बच्चों की खुशियों का गला घोटने के लिएलज्जित होना सिखाया।

शिक्षा की दृष्टि से 'दि न्यू हेल्वायज' (1761 ई0) भी महत्वपूर्ण है।इसमें उन्होंने गृह-शिक्षा का वर्णन किया है। इस पुस्तक में रूसो शिशु केप्रति माता के दायित्वों का वर्णन करते हुए उसे प्रारम्भिक काल में सर्वाधिकमहत्वपूर्ण अध्यापक कहा।

रूसो का सामाजिक दर्शन

रूसो रूमानी प्रकृतिवादी विचारधारा के प्रतिपादक थे। इनके अध्ययन का विषय सृष्टि की संरचना न होकर सृष्टि की आहलादकारी प्रकृति तथा मानव प्रकृति है। इस विचारधारा को प्रकृतिवादी केवल इन अर्थों में कहा जा सकता है कि यह सामाजिक कृत्रिमता का विरोध करता है तथा मानव के प्रकृत जीवन को श्रेष्ठ मानता है। दार्शनिक दृष्टि से यह सम्प्रदाय आदर्शवाद के समीप है क्योंकि रूसो ने प्रकृति को ईश्वर की कृति माना है। अठारहवीं शताब्दी की सामाजिक कृत्रिमताओं, वर्गभेद, धार्मिक अंधविश्वास एवं राजनीतिक निरंकुशता से उठकर रूसो प्रकृति की ओर लौटने का नारा देता है। तत्कालीन समाज को वह सारी बुराइयों का जड़ मानता है। उसका मानना है कि समाज के नियम प्रकृति के सार्वभौमिक एवं सार्वकालिक नियमों पर आधारित होने चाहिए। रूसो

ने स्पष्ट शब्दों में यह घोषणा की कि प्रकृति पर अधिकार उसके नियमों पर चल कर ही किया जा सकता है।

अठारहवीं शताब्दी की सामाजिक बुराइयों के विरुद्ध जो विद्रोह हुआउसको सबसे मुखर वाणी रूसो ने दी। रूसो का मानना था कि पूर्व में मानवनिश्छल एवं अज्ञानी तो था पर उसका जीवन शांत और सरल था। उसकीआवश्यकतायें अल्प थी अत: वह उन्हें आसानी से संतुष्ट कर लेता था। लेकिनयह सुखद स्थिति बहुत दिनों तक नहीं रही और उसकी लालसायें बढ़तीगई- उसने अपने अधिकार को स्थापित करने हेतु सभ्यता का विकास किया।निजी सम्पत्ति पर अत्यधिक जोर दिया जाने लगा। इस कृत्रिम आवश्यकता नेही लोभ की प्रवृत्ति को जन्म दिया। समाज का वर्गों में विभाजन होने लगा। एक तरफ तो प्रभुत्व वाले व्यक्ति थे और दूसरी ओर दास या गुलाम। अत: रूसो सभ्यता को एक भारी भूल बताता है तथा समाज को सारी बुराइयों का जड़। रूसो कहते हैं ''बच्चा जन्म स्वतंत्र-प्राणी के रूप में लेता है पर उसे सभी ओर से जंजीरों से बाँध दिया जाता है।'' अत: रूसो का कहना है कि समाज को और अधिक पतन से बचाने के लिए यह आवश्यक है कि समाज का पुनर्गठन मूल प्राकृतिक सिद्धान्तों के आधार पर किया जाय। रूसो के अनुसार राज्य के अस्तित्त्व का आधार आम सहमति (जनरलविल) है जिसका भाव सभी की भलाई है। अगर राज्य जन सामान्य की भलाई में असमर्थ है तो उसे समाप्त कर देना चाहिए। राज्य के नियम नागरिकों की सहमति के आधार पर बनने चाहिए न कि उनके प्रतिनिधियों की राय के आधार पर। इस प्रकार रूसो के राजनीतिक विचार अपने समय से काफी आगे था। सही अर्थों में रूसो को लोकतंत्र का अग्रदूत कहा जा सकता है। रूसो का मानना था कि धर्म के संदर्भ में व्यक्ति को स्वयं निर्णय लेने के लिए स्वतंत्र छोड़ देना चाहिए। संस्थाबद्ध संगठनों द्वारा इसे व्यक्ति पर थोपना नहीं चाहिए।

रूसो मानव को जन्मजात अच्छा मानता है। मानव समाज के सम्पर्कमें आकर बुराइयों को ग्रहण करता है। वह घोषणा करता है '' प्रकृति केहाथों आने वाली हर चीज अच्छी होती है, मानव समाज हस्तक्षेप करता हैऔर वह दूषित हो जाती है।'' रूसो के अनुसार अच्छाई, सहानुभूति, दया,आदि गुण मानव में जन्मजात होते हैं। आवश्यकता है इन गुणों कोसमाज की बुराइयों से बचाये रखने की।

रूसो का सिद्धांत

रूसो का सामाजिक समझौते का सिद्धान्त

रूसो ने सामाजिक समझौता सिद्धान्त का वर्णन अपनी पुस्तक 'सोशल कांट्रेक्ट' (सामाजिक समझौता) में किया है। इस रचना में रूसो ने आदर्श समाज की स्थापना की युक्ति सुझाई है, जिससे मानव जाति की मानव जाति को प्राकृतिक अवस्था के कष्टों से मुक्ति मिल सके। जिस प्रकार हॉब्स व लॉक ने राज्य की उत्पत्ति का कारण सामाजिक समझौते को माना है, उसी प्रकार रूसो के अनुसार भी राज्य की उत्पत्ति सामाजिक समझौता का ही परिणाम है। रूसो ने अपने राजनीतिक विचारों एवं निष्कर्षों को प्रस् करने के लिए सामाजिक समझौता सिद्धान्त को अपनाया है। रूसो का मूल प्रयास व्यक्ति की स्वतन्त्रता तथा राज्यकी सत्ता के बीच उचित सामंजस्य स्थापित करना था। व्यक्ति को पूर्ण सुरक्षा प्रदान करने के साथ उसे अधिक से अधिक स्वतन्त्रता प्रदान करने के लिए रूसो के सामाजिक समझौता सिद्धान्त को प्रस्तुत किया।

सामाजिक समझौते का उद्देश्य

रूसो के सामाजिक समझौता सिद्धान्त का उद्देश्य इस बात पर प्रकाश डालना नहीं है कि भूतकाल में प्रथम राज्य की स्थापनाकिस प्रकार हुई। उसके सामाजिक समझौता सिद्धान्त का उद्देश्य तो एक ऐसे आदर्श समाज का निर्माण करना है जहाँ राज्यकी सत्ता एवं व्यक्तिगत स्वतन्त्रता में समन्वय स्थापित हो सके और जहाँ मानव जाति अपने कष्टों से छुटकारा पा सके। उसकेसमक्ष "समस्या इस प्रकार के समुदाय का निर्माण करना है जो अपनी सामूहिक शक्ति से प्रत्येक सदस्य के जीवन और धनकी रक्षा कर सके और जिसमें प्रत्येक व्यक्ति दूसरों के साथ मिलकर बहते हुए भी केवल अपने आदेश का पालन कर सकेऔर पहले की तरह स्वतन्त्र भी रह सके।" रूसो इस समस्या का समाधान सामाजिक समझौते द्वारा करता है। रूसो के सामाजिक समझौते का अध्ययन हम इन भागों में कर सकते हैं :-

मानव स्वभाव और प्राकृतिक अवस्था: रूसो मनुष्य को सदगों व दुर्गुणों का मिश्रण मानता है। रूसो की दृष्टि में मनुष्य शान्तिप्रिय व दयावान प्राणी है। सामाजिक प्राणी होने के नाते प्रत्येक व्यक्ति में आत्मरक्षा व सहानुभूति की

दो प्रवृत्तियाँ अवश्य पाई जाती हैं। प्राकृतिक अवस्था में बुद्धि के स्थान पर भावनाओं का ज्यादा महत्त्व है। उसे इस अवस्था में निजी सम्पत्ति और नैतिकता का भी ज्ञान नहीं होता था। इस अवस्था में मनुष्य शान्तिप्रिय, सुखमय जीवन व्यतीत करने वालाप्राणी था। प्राकृतिक अवस्था में मनुष्य उदात्त वन्य प्राणी था। व्यक्ति भौतिक आवश्यकताओं की दृष्टि से आत्मनिर्भर थाऔर उनका जीवन चिन्ता रहित था। वह अपना जीवन प्रकृति के अनुरूप व्यतीत करता था। उसमें ऊँच-नीच का भेदभावनहीं था। मनुष्य दूसरों के हितों को हानि नहीं पहुँचाते थे। उदात्त व्यवहार सहज-प्रवृत्तियों पर ही आधारित था।

समझौते का कारण: रूसो के अनुसार मनुष्य प्राकृतिक अवस्था में शान्ति प्रिय व सुखमय जीवन व्यतीत करता था। यदि ऐसा था तो समझौते की आवश्यकता क्यों पड़ी। प्रत्येक समझौतावादी विचारक ने इसके लिए अलग-अलग कारण बताए हैं। रूसो का कहना है कि तर्क व सम्पत्ति के उदय से प्राकृतिक अवस्था की सुख-शान्ति समाप्त हो गई। समाज में आर्थिक असमानता में वृद्धि हुई। कला और विज्ञान, निजी सम्पत्ति, श्रम-विभाजन, जनसंख्या में वृद्धि से सभ्य समाज की स्थापना हुई जिससे मनुष्यों की प्राकृतिक समानता व स्वतन्त्रता लुप्त हो गई। आर्थिक प्रतिस्पर्धा के कारण मनुष्यों में ईर्ष्या-द्वेष के सम्बन्ध स्थापित हो गए। इससे प्राकृतिक अवस्था कष्टकारी हो गई। रूसो कहता है-समस्या एक ऐसा संगठन बनान ेकी है जो पूर्ण सम्मिलित शक्ति से व्यक्ति और उसके साथियों के हितों की रक्षा करे तथा जिसमें हर व्यक्ति सभी केसाथ संगठित रहते हुए अपनी ही आज्ञा माने तथा पहले के समान ही स्वतन्त्र हो।" प्राकृतिक अवस्था के कष्टमय बनजाने पर ही मनुष्यों ने नये आदर्श समाज की स्थापना के लिए समझौता किया।

सामाजिक समझौते की विधि: रूसो के सामाजिक समझौते में प्रत्येक व्यक्ति एक ओर अपनी वैयक्तिक स्थिति में होता है और दूसरी ओर वह स्वयं अपनी निगमित स्थिति में होता है अर्थात् समझौते के दो पक्ष होते हैं। एक ओर व्यक्ति और एक ओर पूरा समुदाय। रूसो के शब्दों में- "हम में से प्रत्येक व्यक्ति दूसरों के साथ-साथ अपने व्यक्तित्त्व और अपनी सम्पूर्ण शक्ति को सामान्य इच्छा के सर्वोच्च निर्देशन में छोड़ देता है और अपनी निगमित स्थिति में हम प्रत्येक सदस्य से उस पूर्ण सत्ता के अविभाज्य अंश के रूप में मिलते हैं।" इस प्रकार रूसो के अनुसार मनुष्यों ने प्राकृतिक दशा को छोड़कर एक सामाजिक अनुबंध द्वारा सभ्य समाज का निर्माण किया। यह समझौता दो पक्षों के बीच होता

है–व्यक्ति जीवन और सामूहिक जीवन। सामाजिक समझौते द्वारा प्रत्येक व्यक्ति अपने–अपने प्राकृतिक अधिकार अपने सार्वभौम को सौंप देते हैं। रूसो ने समझौते को स्थायी व प्रभावशाली बनाने के लिए लिखा है– "सामाजिक समझौते को प्रभावित बनाने से रोकने के लिए इसमें यह स्पष्ट शर्त उल्लिखित है कि जो कोई भी लोकमत की अवज्ञा करेगा, उसे सभी नागरिकों के समाज द्वारा आज्ञा मानने के लिए बाध्य किया जाएगा।" इसका तात्पर्य व्यक्ति को समझौता छोड़ने की स्वतन्त्रता नहीं है। प्रत्येक व्यक्ति सामान्य इच्छा से बँधा हुआ होता है। इससे वह समाज को जो कुछ देता है, उतना ही लेता भी है। जो कुछ उसके पास है, उसको सुरक्षित करने के लिए वह पर्याप्त शक्ति भी प्राप्त करता है। रूसो ने लिखा है– "प्रत्येक व्यक्ति अपने आपको सभी को समर्पित करते हुए किसी को भी व्यक्तिगत रूप में समर्पित नहीं करता, इस तरह कोई भी ऐसा सदस्य नहीं होता है जो दूसरों पर उन्हीं अधिकारों को प्राप्त नहीं करता है जो कि वह अपने पर दूसरों को देता है, जो कुछ वह गँवाता है, उसी के बराबर वह प्राप्त कर लेता है और अपनी वस्तुओं की सुरक्षा में वृद्धि कर लेता है।" इस समझौते द्वारा पृथक् व्यक्तियों के स्थान पर एक नैतिक और सामूहिक निकाय का जन्म होता है, जिसका अपना जीवन होता है, अपना अस्तित्त्व होता है, अपनी इच्छा होती है एवं अपनी सत्ता और एकता होती है। यदि यह निकाय निष्क्रिय रहता है तो राज्य, यदि सक्रिय तो सम्प्रभु कहलाता है। प्रत्येक सदस्य अपने समस्त अधिकार अथवा शक्तियाँ समाज को देता है। इस समझौते से उत्पन्न समाज एकताबद्ध, सर्वोच्च और नैतिक होता है न कि दमनकारी और स्वतन्त्रता विरोधी। इस समझौते से मनुष्य कुछ नहीं खोता है। समाज का सदस्य होने के नाते जो कुछ वह समाज को देता है, वही अधिकार वह समाज केप्रत्येक सदस्य के ऊपर स्वयं प्राप्त कर लेता है। रूसो ने सामाजिक समझौता प्रक्रिया को इस प्रकार समझाया है– "हम में से प्रत्येक अपने शरीर अथवा अपनी सम्पूर्ण शक्ति को सबके साथ सामान्य रूप से सामान्य इच्छा के सर्वोच्च निर्देशन में रख देता है और अपने सामूहिक स्वरूप में हम प्रत्येक सदस्य को सम्पूर्ण के एक अविभाज्य अंग के रूप में स्वीकार करते हैं। एकदम समझौते को करने वाले प्रत्येक व्यक्ति के व्यक्तिगत व्यक्तित्त्व के स्थान पर इस समूहीकरण से एक नैतिक तथा सामूहिक निकायका जन्म होता है जो कि उतने ही घटकों से मिलकर बनता है जितने कि उसमें मत होते हैं। समस्त व्यक्तियों के संघटन से बने हुए इस सार्वजनिक व्यक्ति को पहले नगर कहते थे, अब उसे गणराज्य अथवा राजनीतिक समाज कहते हैं।"

समझौते का प्रभाव

रूसो के अनुसार इस समझौते के हो जाने पर मानव-स्वभाव में महान् परितर्वन होता है। जहाँ प्राकृतिक अवस्था में मनुष्य नैसर्गिक प्रवृत्तियों द्वारा निर्देशित होता था, नागरिक समाज में न्याय द्वारा निर्देशित होता है। इससे व्यक्ति में नैतिकता का जन्म होता है। कर्त्तव्य के स्थान पर अधिकार का, शारीरिक संवेग के स्थान पर कर्त्तव्य का, इच्छा के स्थान पर विवेक का और स्वार्थ के स्थान पर परमार्थ का उदय होता है। नागरिक समाज में मनुष्य की प्रतिभा मुखरित होकर उसके विचारों का विकास करती है, उसकी भावना तथा आत्मा ऊँची उठती है। रूसो का कहना है कि नागरिक समाज में व्यक्ति अपने मनुष्यत्व को प्राप्त करता है। दूसरे शब्दों में नागरिक बनने के बाद ही व्यक्ति मनुष्य बनता है।

समझौते की विशेषताएँ

यह समझौता एक बार ही हुआ।

यह समझौता व्यक्ति द्वारा अपनी स्वतन्त्रता को सुरक्षित करने तथा अराजकता का अन्त करने के लिए किया जाता है। प्राकृतिक दशा में सभी व्यक्ति 'ग्राम्य सुषमा के आनंद' का जीवन व्यतीत करते हैं। परन्तु प्राकृतिक अवस्था में आधारभूत परिवर्तनों जैसे कला और विज्ञान, निजी सम्पत्ति, श्रम-विभाजन आदि के कारण मनुष्य संघर्षरत रहने से दु:खी होकर अराजकता तथा अशान्ति के वातावरण को समाप्त करने के लिए यह कदम उठाता है।

इस समझौते द्वारा प्रत्येक व्यक्ति अपने-अपने प्राकृतिक अधिकार अपने सामूहिक अस्तित्त्व को समर्पित कर देता है। अर्थात् व्यक्ति स्वयं समझौते का भागी होता है। इसकी स्थापना के बाद व्यक्ति इससे अलग नहीं हो सकता।

समझौते के परिणामस्वरूप उत्पन्न समाज स्वतन्त्रता विरोधी नहीं है। इसका तात्पर्य यह है कि समझौता करने से उसकी स्वतन्त्रता सीमित नहीं होती। इस समझौते द्वारा व्यक्ति अपनी प्राकृतिक स्वतन्त्रता खोकर नागरिक स्वतन्त्रता प्राप्त करताहै। रूसो के अनुसार- "समझौते द्वारा व्यक्ति सिर्फ उसी स्वतन्त्रता को खोता है जो उसे असामाजिक भावनाओं के अनुसार कार्य करने के लिए प्रेरित करती है एवं जो केवल शारीरिक शक्ति द्वारा मर्यादित होती है। रूसो इसे नैतिक स्वतन्त्रता कहता है। यह स्वतन्त्रता सच्ची स्वतन्त्रता होती है। इसके द्वारा व्यक्ति अपने ऊपर नियन्त्रण रख सकता है। रूसो के अनुसार- "सामाजिक अनुबंध के

द्वारा मनुष्य अपनी प्राकृतिक स्वतन्त्रता खो देता है और उन सब वस्तुओं पर उसका असीमित अधिकार नहीं रह जाता जो उसे आकर्षित करती थी, उसे मिलती है। नागरिक स्वतन्त्रता अर्थात जो कुछ उसके पास है वह उसकी सम्पत्ति हो जाता है।" इस समझौते में प्रत्येक व्यक्ति की इच्छा शामिल रहती है, एतएव व्यक्ति कानूनों का पालन कर सच्ची स्वतन्त्रता का उपभोग करता है। इस प्रकार समझौते द्वारा व्यक्ति की स्वतन्त्रता का हनन नहीं होता।

रूसो के सामाजिक समझौते द्वारा जिस सामान्य इच्छा का निर्माण होता है, वह सभी व्यक्तियों के लिए सर्वोच्च होती है। सभी व्यक्ति उसके अधीन होते हैं। रूसो की सामान्य इच्छा राज्य शक्ति व सम्प्रभु है।

रूसो के समझौते के आधार पर निर्मित सामान्य इच्छा सदैव ही जनहित पर आधारित एवं न्याययुक्त होती है। सभी व्यक्ति रूसो की सामान्य इच्छा द्वारा निर्देशित होते हैं।

रूसो के समझौते में प्रत्येक व्यक्ति एक ओर तो वैयक्तिक स्थिति में और दूसरी ओर वह स्वयं अपनी निगमित स्थिति में होता है अर्थात् सामाजिक समझौते के अन्तर्गत प्रत्येक व्यक्ति के दो पक्ष हैं–व्यक्तिगत और सामूहिक पक्ष। प्रत्येक व्यक्ति प्रभुसत्ता का सहभागी बना रहता है क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति अपने अधिकारों का समर्पण किसी व्यक्ति विशेष के प्रति नहीं, यह सम्पूर्ण समाज के प्रति करता है। इसलिए यह सिद्धान्त व्यक्ति के प्राकृतिक अधिकारों का रक्षक है, विनाशक नहीं।

रूसो के सामाजिक समझौता द्वारा प्रत्येक व्यक्ति अपने समस्त अधिकारों व शक्तियों को सम्पूर्ण समाज को सौंप देता है। इसलिए कोई भी व्यक्ति इसे इतना कठोर नहीं बनाना चाहेगा कि व्यक्ति का दमन हो और स्वतन्त्रता नष्ट हो जाए। अतः यह समझौता दमनकारी और स्वतन्त्रता विरोधी नहीं है।

इस समझौते द्वारा प्रत्येक को लाभ होता है, हानि नहीं। वह जो कुछ सबको देता है, उसे सम्पूर्ण समाज का अभिन्न अंगहोने के नाते प्राप्त भी कर लेता है। अतः इससे प्रत्येक को लाभ होता है।

हॉब्स व लॉक के विपरीत रूसो के समझौते से उत्पन्न राज्य का स्वरूप आंगिक एवं समष्टिवादी है। रूसो राज्य को केलयान्त्रिक साधन न मानकर उसे नैतिक प्राणी मानता है, जिसका अपना जीवन व इच्छा होती है। राज्य मानव में मानवीय गुणों का समावेश करके उसे पूर्ण नैतिक मानव बना देता है। राज्य स्वयं एक उद्देश्य है, किसी उद्देश्य की पूर्ति का साधन नहीं। राज्य का अपना अलग

अस्तित्त्व होता है, जिसमें व्यक्ति का व्यक्तित्त्व भी शामिल है। अत: रूसो का राज्य आंगिक व समष्टिवादी है।

रूसो के अनुसार सामाजिक समझौता व्यक्ति के सभी अधिकारों का स्रोत है। रूसो अधिकार को नैसर्गिक न मानकर राज्य द्वारा प्रदत्त मानता है। राज्य से बाहर व्यक्ति का कोई अधिकार नहीं होता।

रूसो के अनुसार सामाजिक समझौता कोई ऐसी घटना नहीं है जो कभी एक बार घटी हो। यह तो निरन्तर चलने वाला क्रम है, जिससे प्रत्येक व्यक्ति सामान्य इच्छा में निरन्तर भाग लेता रहता है।

सामाजिक समझौते के द्वारा सरकार का निर्माण नहीं होता है। सरकार की स्थापना प्रभुसत्ता सम्पन्न जनता द्वारा की जाती है। सरकार जनता की प्रतिनिधि है और उसे कोई स्वतन्त्र शक्ति या अधिकार प्राप्त नहीं है। जनता को यह अधिकार है कि वह सरकार बदल दे। रूसो के अनुसार इस समझौते में प्रत्येक व्यक्ति को लाभ होता है। इसमें किसी को कोई हानि नहीं होती। जो अधिकार वह देता है, वही दूसरों के ऊपर प्राप्त कर लेता है। अर्थात् इससे प्रत्येक व्यक्ति को लाभ होता है। रूसो के अनुसार- "प्रत्येक व्यक्ति अपने आपको सबके हाथ समर्पित करते हुए अपने ओपको किसी के हाथ समर्पित नहीं करता।" यह समझौता निरन्तर चलने वाली प्रक्रिया है। इससे प्रत्येक व्यक्ति को लाभ प्राप्त होता रहता है। इस समझौते का प्रत्येक सदस्य अपने सारे अधिकार अथवा शक्तियाँ सम्पूर्ण समाज को दे देता है। व्यक्ति उन्हीं अधिकारों को राज्य को सौंपता है जो सम्पूर्ण समाज से सम्बन्धित हैं। वह व्यक्तिगत अधिकार अपने पास रख लेता है। व्यक्तिगत या सामाजिक कार्य का निर्माण समाज करता है। राज्य को व्यक्तिगत अधिकारों से कुछ लेना-देना नहीं है। राज्य केवल व्यक्तिगत हित में सार्वजनिक हित की सुरक्षा हेतु ही हस्तक्षेप कर सकता है।

रूसो के अनुसार समझौता निष्क्रिय प्रजा और सक्रिय सम्प्रभु दोनों के बीच होता है। मनुष्य अपनी शक्तियाँ सम्पूर्ण समाज को समर्पित करता है और उसकी क्रियाओं पर समाज के समस्त सदस्यों का समान अधिकार होता है। प्रत्येक व्यक्ति केवल उतना ही स्वतन्त्र रहता है जितना कि वह पहले था, वरन् सामूहिक परिस्थितियों के अन्तर्गत वह पहले से कहीं अधिक स्वतन्त्र हो जाता है। संविदा के फलस्वरूप उत्पन्न समाज का रूप सावयवी होता है। यह समाज नैतिक तथा सामूहिक प्राणी है। व्यक्ति राज्य का अभिन्न अंग होने के नाते, राज्य से किसी प्रकार भी अलग नहीं हो सकता। व्यक्ति राज्य के विरुद्ध आचरण भी

नहीं कर सकता। रूसो ने हॉब्स की तरह अराजकता का अन्त करने के लिए ही सामाजिक समझौता किया।

सामाजिक समझौता सिद्धान्त की आलोचनाएँ

रूसो द्वारा प्रतिपादित सामाजिक समझौता सिद्धान्त की इन आधारों पर आलोचना हुई है:-

तार्किक असंगतियाँ: रूसो ने जिन तर्कों को आधार बनाकर राज्य का निर्माण किया है, वे हास्यास्पद और विसंगतियों से भरे हैं। रूसो कहता है कि समझौते में शामिल प्रत्येक व्यक्ति जो पूरे समुदाय से समझौता करता है, वह वास्तव में अपने से ही समझौता करता है। ऐसे कथन निरर्थक प्रलाप जैसे लगते हैं। समझौते द्वारा बनने वाला सम्प्रभु न कोई व्यक्ति है और न व्यक्तियों का समूह। वह एक सामान्य इच्छा है, फिर भी उसका अपना व्यक्तित्त्व है, अपनी इच्छा है। इसका कोई भौतिक अस्तित्त्व नहीं है। एक मनोवैज्ञानिक इकाई के साथ व्यक्ति का काम करना कल्पना लोक की बात है।

समझौता अवैधानिक– जिस समय यह समझौता हुआ, उस समय उसे लागू करने वाली कोई वैध शक्ति नहीं थी। अत: इसे वैध नहीं माना जा सकता।

रूसो के राज्य में व्यक्ति समाप्त हो गया है: रूसो ने राज्य की चेतना को इतना सार्वभौमिक बना दिया है कि उसमें व्यक्ति एकाकार होकर रह गया है। वान का कहना है कि रूसो व्यक्तिवाद को समष्टिवाद के साथ इस तरह मिला देता है कि यह जनसाधारण से परे चला गया है। समझौते के अनुसार व्यक्ति अपने सारे अधिकार राज्य को दे देता है तथा समाज का सदस्य होने के नाते उन्हें पुन: प्राप्त कर लेता है। यह सैद्धान्तिक कथन है। सच्चाई तो यह है कि रूसो ने व्यक्ति को निरंकुशता के हवाले कर दिया है।

प्राकृतिक अवस्था का वर्णन काल्पनिक है: इतिहास में इस तरह का कोई वर्णन नहीं मिलता कि सम्पत्ति व जनसंख्या की वृद्धि ने प्राकृतिक अवस्था में व्यक्ति के जीवन को कष्टमय बना दिया। यह सैद्धान्तिक रूप से तो ठीक हो लेकिन इतिहास में इसका कोई प्रमाण नहीं है। इसलिए रूसो की प्राकृतिक अवस्था का वर्णन निराधार व काल्पनिक है।

विरोधाभासी: रूसो के अनुसार समझौता व्यक्ति और समाज में होता हे। दूसरी ओर वह कहता है कि समाज समझौते का परिणाम है। उसके विचार में स्पष्ट विरोधाभास है। उसका सामाजिक समझौता सिद्धान्त हॉब्स के मानव समाज

के विचार पर आधारित है। आलोचकों के अनुसार कहीं रूसो समझौते को ऐतिहासिक घटना कहता है, कहीं निरन्तर चलने वाला क्रम। अत: यह सिद्धान्त विरोधाभासी है।

मानव स्वभाव का गलत वर्णन: रूसो ने प्राकृतिक अवस्था में मानव स्वभाव का वर्णन करते हुए कहा है कि मौलिक रूप से मानव अच्छा है। उसके सारे दोष बाह्य परिस्थितियों की देन हैं। वास्तव में ऐसा नहीं है। मानव स्वभाव दैत्य वदेव दो प्रवृत्तियों का मेल है।

राज्य समझौते का नही, विकास का परिणाम है: आधुनिक समय में यह सिद्ध हो चुका है कि राज्य समझौते का परिणामन होकर धीरे-धीरे होने वाली सामाजिक संस्थाओं के विकास का परिणाम है। अत: राज्य को समझौते का परिणाम कहना सरासर गलत है।

सामाजिक प्रगति सिद्धान्त का विरोधी: रूसो का सामाजिक समझौता सिद्धान्त सम्पत्ति का उदय तथा जनसंख्या वृद्धि के परिणामस्वरूप प्राकृतिक अवस्था दोषपूर्ण हुई। आज तक का इतिहास विज्ञान व ज्ञान के परिणामस्वरूप निरन्तर प्रगतिका इतिहास है। रूसो की धारणा इस सिद्धान्त की विरोधी है।

रूसो के सामाजिक समझौते में यह कमी नजर आती है कि रूसो ने मनुष्य को बुराई से बचने के लिए मार्गदर्शन किया है परन्तु अच्छाई के मार्ग पर ध्यान नहीं दिया है अर्थात् रूसो ने भ्रष्टाचार, दुराचार और स्वार्थ से बचने के लिए अपने मत प्रस्तुत किये हैं, परन्तु उनके विकास और प्रगति की ओर ध्यान नहीं दिया है।

स्पष्टता का अभाव: रूसो सामाजिक समझौते को निरन्तर चलती रहने वाली प्रक्रिया मानता है। इस कथन का कोईस्पष्ट अर्थ रूसो प्रस्तुत नहीं करता। अत: रूसो का यह सिद्धान्त अस्पष्ट है।

रूसो के समझौता सिद्धान्त का महत्त्व

रूसो का समझौता सिद्धान्त ऐतिहासिक, कानूनी और तार्किक दृष्टि से दोषपूर्ण होते हुए भी बहुत महत्त्वपूर्ण है। इसका महत्त्व है:-

इस सिद्धान्त द्वारा राज्य की उत्पत्ति के दैवीय सिद्धान्त पर करारी चोट की गई है।

इस सिद्धान्त ने राज्य को मानवीय संस्था बनाकर निरंकुश शासन का विरोध किया और उत्तरदायी प्रजातन्त्रीय शासन प्रणाली का समर्थन किया है।

इसने शासन का आधार जन-स्वीकृति को बताया है, जो आधुनिक प्रजातन्त्र को मजबूती प्रदान करती है।

रूसो ने लोकप्रिय प्रभुसत्ता को सुदृढ़ बनाया है।

यह सिद्धान्त अमेरिका तथा फ्रांसीसी क्रान्तियों का प्रेरणा-स्रोत है।

अत: हम कह सकते हैं कि अनेक त्रुटियों के बावजूद यह सिद्धान्त राजनीतिक चिन्तन के इतिहास में बहुत ही महत्त्वपूर्ण स्थानरखता है।

रूसो का सामान्य इच्छा का सिद्धान्त

यह सिद्धान्त रूसो के दर्शन का सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण, मौलिक, केन्द्रीय एवं रोचक विचार है। यह रूसो के सम्पूर्ण राजनीतिक दर्शन की आधारशिला है। इसी धारणा के आधार पर रूसो ने स्वतन्त्रता, अधिकार, कानून, सम्प्रभुता, राज्य की उत्पत्ति, संगठन आदि विषयों पर अपने विचार प्रकट किये हैं। जोन्स के शब्दों में- "सामान्य इच्छा का विचार रूसो के सिद्धान्त का न केवल सबसे अधिक केन्द्रीय विचार है, अपितु यह उसका अधिक मौलिक व रोचक विचार भी है। रूसो का राजनीतिक क्षेत्र में उसकी सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण देन है।" इसी प्रकार मैक्सी ने भी कहा है- "सामान्य इच्छा की धारणा सूक्ष्म मनोयोग की पात्र है। वह रूसो के दर्शन का मर्म है और शायद राजनीतिक चिन्तन के प्रति उनका सबसे विशिष्ट योगदान है।" रूसो के राजनीतिक विचारों को समझने के लिए उसकी सामान्य इच्छा की धारणा समझना आवश्यक है। सामान्य इच्छा का सिद्धान्त रूसो की सबसे विवादास्पद धारणा है। जहाँ प्रजातन्त्र के समर्थकों ने रूसो की सामान्य इच्छा का स्वागत किया है, वहीं निरंकुश शासकों ने इसका गलत प्रयोग करके जनता पर अत्याचार किये हैं।

रूसो ने जब एकान्त में रहने वाले व्यक्तियों से अनुशासनपूर्ण संस्था का निर्माण कराना चाहा तो ऐसा करना तार्किक दृष्टि से असम्भव हो गया। रूसो का समझौता किसी चमत्कार का परिणाम लगने लगा। पशुत्व का जीवन जीने वाले रातों-रात नागरिक बन गए। इस विसंगति को दूर करने के लिए रूसो ने सामान्य इच्छा का सिद्धान्त प्रतिपादित किया। रूसो ने इस सिद्धान्त द्वारा व्यक्तिगत स्वतन्त्रता तथा सामाजिक सत्ता में समन्वय का प्रयास किया है। रूसो के सामान्य इच्छा के सिद्धान्त को समझने के लिए सबसे पहले 'यथार्थ या स्वार्थी' इच्छा तथा वास्तविक या आदर्श इच्छा में भेद करना आवश्यक है। सामान्यत: इन दोनों

इच्छाओं का एक ही अर्थ लिया जाता है। परन्तु रूसो द्वारा इनका प्रयोग विशेष अर्थ में किया गया है।

यथार्थ या स्वार्थी इच्छा: यह व्यक्ति की क्षणिक आवेग से उत्पन्न इच्छा है। यह सदैव निम्न व परिवर्तनशील कोटि की होती है। यह प्रत्येक क्षण व्यक्ति का स्वार्थ देखने के लिए उठती है। इससे सारे समाज को स्थायी आनन्द प्राप्त नहीं होता। यह इच्छा स्वार्थ-प्रेरित, संकीर्ण और अस्थिर है। इसे व्यक्तिगत या ऐन्द्रिक इच्छा का नाम भीदिया गया है। इसी इच्छा के कारण व्यक्ति दूसरों से झगड़ता रहता है। आशीर्वादन के अनुसार- "यह व्यक्ति की समाजविरोधी इच्छा है। यह क्षणिक एवं तुच्छ इच्छा है। यह संकुचित तथा स्वविरोधी भी है।"

वास्तविक इच्छा: वास्तविक इच्छा निश्चित और स्थिर होती है। इसमें स्वार्थ सार्वजनिक हित के अधीनरहता है। यह शाश्वत, विवेकपूर्ण एवं सामाजिक कल्याण के हित में होती है। इस इच्छा से व्यक्ति अपने हित को सार्वजनिक हित के रूप में देखता है। यह मनुष्य की श्रेष्ठता तथा स्वतन्त्रता की द्योतक है। नागरिक के बौद्धिक चिन्तन का परिणाम एवं वैयक्तिक स्वार्थ से रहित होने के कारण यह व्यक्ति की आदर्श इच्छा भी कही जा सकती है। वास्तविक इच्छा निर्विकार, नित्य और स्थिर है। डॉ॰ आशीर्वादन के अनुसार- "यह जीवन के सभी पहलुओं पर व्यापक रूप में दृष्टिपात करती है। यह विवेकपूर्ण इच्छा है। यह व्यक्ति तथा समाज के सामंजस्य में प्रदर्शित होती है।"वास्तविक इच्छा व स्वार्थी इच्छा के अन्तर को एक उदाहरण द्वारा समझा जा सकता है-यदि एक व्यक्ति रिश्वत लेकर नौकरी देता है तो यह उसकी स्वार्थी या यथार्थ इच्छा है। यदि वह रिश्वत न लेकर नौकरी देता है तो यह उसकी वास्तविक या आदर्श इच्छा है।

समान्य इच्छा का अर्थ

सामान्य इच्छा राज्य के सभी नागरिकों की वास्तविक या आदर्श इच्छाओं का योग है। इस इच्छा द्वारा वे अपने व्यक्तिगत हितोंकी कामना न करके सार्वजनिक कल्याण की कामना करते हैं, यह सभी के कल्याण के लिए सभी की आवाज है।

बोसाँके के अनुसार- "सामान्य इच्छा सम्पूर्ण समाज की सामूहिक अथवा सभी व्यक्तियों की ऐसी इच्छाओं का समूह है जिसका लक्ष्य सामान्य हित है।" समाज में व्यक्तिगत हितों का सामाजिक हितों के साथ समन्वय और सामंजस्य ही सामान्य इच्छा है।

समझौतावादी विचारक रूसो के अनुसार- "नागरिकों की वह इच्छा जिसका उद्देश्य सामान्यहित हो, सामान्य इच्छा कहलाती है। ग्रीन के शब्दों में, "सामान्य हित ही सामान्य चेतना है।"

वेपर के अनुसार- "सामान्य इच्छा नागरिकों की वह इच्छा है जिसका उद्देश्य ही सबकी भलाई है, व्यक्तिगत स्वार्थ नहीं। यह सबकी भलाई के लिए सबकी आवाज है।"

रूसो के अनुसार- "जब बड़ी संख्या में लोग आपस में एकत्रित होकर अपने को ही एक समुदाय का निर्माता मान लेते हैं तो उनसे केवल एक ही इच्छा का निर्माण होता है जिसका सम्बन्ध पारस्परिक संरक्षण और सबके कल्याण से होता है। यही सार्वभौमिक इच्छा है।"

सामान्य इच्छा का सबसे महत्त्वपूर्ण तत्त्व सामान्य हित पर आधारित अर्थात् आदर्श या वास्तविक इच्छा है। रूसो ने स्वयं कहा है- "मतदाताओं की संख्या से कम तथा उस सार्वजनिक हित की भावना से अधिक इच्छा सामान्य बनती है, जिसके द्वारा वे एकता में बँधते हैं। इससे स्पष्ट है कि सामान्य इच्छा का निर्माण दो तत्त्वों से होता है-सामान्य व्यक्तियों की इच्छा तथा सार्वजनिक हित पर आधारित इच्छा। इनमें यथार्थ व वास्तविक इच्छा ही सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है। हम सबकी इच्छा पर चलकर सामान्य इच्छा पर पहुँचते हैं। व्यक्ति अपने व्यक्तिगत दृष्टिकोण के अनुसार विभिन्न समस्याओं पर चिन्तन करता है।यह चिन्तन उनकी व्यक्तिगत या वास्तविक इच्छा जहाँ-जहाँ एक-दूसरे को रद्द कर देती है। अत: उनकी वास्तविक इच्छा उभरकर ऊपर आ जाती है जो सामान्य इच्छा की अभिव्यक्ति है। इस प्रकार सामान्य इच्छा का निर्माण होता है।

सामान्य इच्छा का निर्माण

व्यक्ति में दो प्रकार की इच्छाएँ-यथार्थ तथा वास्तविक होती हैं। यथार्थ इच्छाएँ भावना प्रधान होती हैं, जबकि वास्तविक इच्छाएँ भावना प्रधान नहीं होतीं। ये वास्तविक अर्थात् आदर्श इच्छाएँ इसलिए कहलाती हैं कि इनमें स्वार्थ की भावना का समावेश नहीं होता। यथार्थ इच्छाएँ हमेशा पक्षपातपूर्ण व स्वार्थी होती हैं। वास्तविक इच्छा हमेशा कल्याणकारी होती है। यहकिसी की अहित नहीं करती। यदि मनुष्य के स्वभाव में से यथार्थ या स्वार्थी इच्छाओं को निकाल दिया जाए तो वास्तविक इच्छा ही शेष बचेंगी। अत: सामान्य इच्छा व्यक्ति की सभी वास्तविक या आदर्श इच्छाओं का योग है। वास्तविक इच्छाएँ ही निर्णय लेने

वाली इच्छाएँ हैं। सामान्य इच्छा के निर्माण को एक उदाहरण देकर समझाया जा सकता है- एक व्यक्ति के पासक क1, ख ख1, ग ग1 इच्छाएँ हैं। इनमें क, ख, ग, भावना प्रधान इच्छाएँ है। ये स्वार्थी या व्यक्तिगत हित पर आधारित इच्छाएँ हैं। यदि इनको व्यक्ति की इच्छाओं में से निकाल दिया जाए तो शेष क1, ख1, ग1 बचेंगी। ये वास्तविक या आदर्श इच्छाएँ हैं। क1 ख1 ग1 का योग सामान्य इच्छा है। अत: सामान्य इच्छा के निर्णय के निर्णय आदर्श होते हैं और सभी उसका पालन करते हैं। सामान्य इच्छा की अभिव्यक्ति के लिए विषयों को सामान्य हित के रूप में देखना चाहिए।

सामान्य इच्छा और बहुमत की इच्छा

रूसो के अनुसार सामान्य इच्छा की अभिव्यक्ति के लिए मतदाताओं की संख्या नहीं, बल्कि सार्वजनिक का विचार ही प्रधानहोता है। रूसो के अनुसार "जो तत्त्व इच्छा को सामान्य बनाता है, वह इसे रखने वाले व्यक्तियों की संख्या नहीं, अपितु वह सार्वजनिक हित है जो उन्हें एकता के सूत्र में बाँधता है।" बहुसंख्यक मतदाता सार्वजनिक हित के बदले सामूहिक स्वार्थ का प्रतिनिधित्व कर सकते हैं अर्थात् वे सार्वजनिक हित के विपरीत कार्य कर सकते हैं। रूसो के अनुसार- "समाज के समस्त सदस्यों की इच्छाओं का कुल योग सामान्य इच्छा कभी नहीं हो सकता, क्योंकि समस्त सदस्यों की इच्छाओं में सदस्यों के व्यक्तिगत स्वार्थों का मिश्रण होता है, जबकि सामान्य इच्छा का सम्बन्ध केवल सामान्य हितों से होता है।" सर्व सम्मति सामान्य इच्छा की कसौटी नहीं हो सकती। सामान्य इच्छा बहुमत की इच्छा से सर्वथा अलग है। सामान्य इच्छा लोक-कल्याण के उद्देश्य से प्ररित है।

सामान्य इच्छा और सर्वसम्मति से इच्छा

रूसो ने इन दोनों में भेद किया है। समस्त सदस्यों की इच्छाओं में व्यक्तिगत हितों का समावेश होता है। सामान्य इच्छा कासम्बन्ध सामान्य हितों से ही होता है। रूसो के अनुसार- "सामान्य इच्छा का लक्ष्य सार्वजनिक होता है, जबकि सर्वसम्मति यासभी की इच्छा का लक्ष्य वैयक्तिक हित होता है। यह सभी द्वारा व्यक्त इच्छा भी हो सकती है। सर्वसम्मति व्यक्तियों के हितोंसे भी सम्बन्धित हो सकती है, पर सामान्य इच्छा अनिवार्यत: सारे समाज के कल्याण से ही सम्बन्धित होती है।"

सामान्य इच्छा और लोकमत

रूसो सामान्य इच्छा और लोकमत में अन्तर स्पष्ट करता है। लोकमत का रूप हमेशा समाज की भलाई नहीं है। कभी-कभी लोकमत समाज के हित में नहीं होता। परन्तु सामान्य इच्छा सदैव समाज के स्थायी हित का ही प्रतिनिधि होती है। प्रचार साधनों, जैसे- रेडियो, टी॰ वी॰, समाचार-पत्र व पत्रिकाओं आदि द्वारा लोकमत पथ भ्रष्ट हो सकता है, परन्तु सामान्य इच्छा कभी भ्रष्ट नहीं होती।

सामान्य इच्छा की विशेषताएँ

रूसो द्वारा प्रतिपादित सामान्य इच्छा की विशेषताएँ हैं:-

सामान्य इच्छा सम्प्रभुता सम्पन्न है: सामान्य इच्छा सर्वोच्च और सम्प्रभु होती है। इसपर किसी प्रकार के दैवी और प्राकृतिक नियमों का प्रतिबन्ध नहीं होता। यह कानून का निर्माण करती है, धर्म का निरूपण करती है, एवं नैतिक और सामाजिक जीवन को संचालित करती है। जो सामान्य इच्छा की अवज्ञा करता है, उसे इसका पालन करने के लिए बाध्य किया जा सकता है। यह जनवाणी होती है, इसलिए कोई अवहेलना नहीं कर सकता। सामान्य इच्छा सभी की शक्ति, अधिकार और हितों का योग है। अतएव सामान्य इच्छा सम्प्रभु है। यह कल्याणकारी निर्णय लेती है और निर्णयों को क्रियान्वित करती है। इसमें बाध्यता की शक्ति है। सामान्य इच्छा समुदाय की प्रभुसत्ता की अभिव्यक्ति है जिसे टाला नहीं जा सकता। प्रत्येक व्यक्ति सामान्य इच्छा के आदेशों के पालन के लिए बाध्य है। सामान्य इच्छा व्यक्तिपर दबाव डाल सकती है। अत: सामान्य इच्छा ही सम्प्रभु है।

अविभाज्य: रूसो का मानना है कि सामान्य इच्छा को सम्प्रभुत से अलग नहीं किया जा सकता। सामान्य इच्छा सम्प्रभु होती है और सम्पूर्ण समाज में निवास करती है। आधुनिक बहुलवादियों की तरह रूसो की सामान्य इच्छा छोटे-छोटे भागों में नहीं बँट सकती। यहाँ रूसो सर्व सत्ताधिकारवादी राज्य का समर्थक है। विधायिका, कार्यपालिका तथा न्यायपालिका सम्प्रभु के आदेशों का पालन करती है, लेकिन स्वयं सम्प्रभु नहीं बन सकती। वे सरकार का अंग मात्र है, सम्प्रभु नहीं। अत: सामान्य इच्छा अविभाज्य है।

प्रतिनिधियों द्वारा अभिव्यक्ति नहीं: रूसो के अनुसार जनता अपनी सम्प्रभुता को किसी एक व्यक्ति अथवा व्यक्ति समूह के सामने समर्पित नहीं कर

सकता। अर्थात् सामान्य इच्छा प्रतिनिधियों द्वारा अभिव्यक्त किये जाने योग्य नहीं है। रूसो ने कहा है- "जब कोई राष्ट्र प्रतिनिधियों को नियुक्त करता है तब स्वतन्त्र नहीं रह जाता, अपना अस्तित्त्व कायम नहीं रख सकता। संसद के सदस्यों के केवल निर्वाचन के समय ही इंगलैण्ड की जनता स्वतन्त्र होती है। निर्वाचनों के बाद जनता दास और नगण्य बन जाती है।"

सामान्य इच्छा एकता स्थापित करती है: सामान्य इच्छा सदैव युक्ति संगत होती है। सामान्य इच्छा विभिन्नता में एकता स्थापित करती है, क्योंकि राज्य के व्यक्तिगत स्वार्थ उसमें विलीन हो जाते हैं। लार्ड के अनुसार- "यह राष्ट्रीय चरित्र की एकता को उत्पन्न और स्थिर करती है और उन समान गुणों में प्रकाशित होती है जिनके किसी राज्य के नागरिकों में होने की आशा की जाती है। व्यक्तियों की स्वार्थमयी इच्छाएँ परस्पर एक-दूसरे की इच्छाओं को समाप्त कर देती हैं जिससे सामान्य इच्छा का उदय होता है। सभी व्यक्ति सार्वजनिक हित में ही अपने निजी हितों का दर्शन करते हैं।

सामान्य इच्छा अदेय है: रूसो की सामान्य इच्छा अदेय है। इसे हस्तांतरित नहीं किया जा सकता। यह समाज का प्राण होती है। शक्ति तो किसी को दी जा सकती है, इच्छा नहीं। सामान्य इच्छा की अभिव्यक्ति सम्पूर्ण समाज ही कर सकता है। सामान्य इच्छा को दूसरे को सौंपने का अर्थ उसे नष्ट करना है। रूसो ने लिखा है-"जिस समय वहाँ कोई स्वामी नहीं होता है, उसी क्षण सम्प्रभु का अस्तित्त्व नष्ट हो जाता है और राजनीतिक समुदाय नष्ट होता है।"

सामान्य इच्छा स्थायी है: रूसो के अनुसार- "सामान्य इच्छा का कभी अन्त नहीं होता,यह कभी भ्रष्ट नहीं होती। यह अपरिवर्तनशील तथा पवित्र होती है।" सार्वजनिक हित का मार्ग एक ही हो सकता है, इसलिए सामान्य इच्छा स्थिर और निश्चित है। ज्ञान और विवेक पर आधारित होने के कारण यह स्थायी है। यह किसीप्रकार के भावात्मक आवेगों का परिणाम नहीं है अपितु मानव के जन-कल्याण की स्थायी प्रवृत्ति और विवेक का परिणाम है। अत: इसमें परिवर्तन नहीं किया जा सकता।

सामान्य इच्छा का सम्बन्ध जनहित से होता है: रूसो की सामान्य इच्छा लोक कल्याण से सम्बन्ध रखती है। सामान्य इच्छा का उद्देश्य समाज के किसी एक अंग का विकास करना न होकर, सम्पूर्ण समाज का कल्याण करना है, रूसो का यह विचार सर्वसत्ताधिकारवादी विचार का पोषक हैं।

सामान्य इच्छा में बाध्यता की शक्ति है: रूसो की सामान्य इच्छा सम्प्रभु होने के कारण बाध्यता की शक्ति रखती है। उसका उद्देश्य सभी का कल्याण है, इसलिए कोई उसके विरुद्ध कदम नहीं उठा सकता। उसके पास कानून बनाने तथा दण्ड देने की शक्ति होती है। यदि यह शक्ति न हो तो कोई उसका पालन नहीं करेगा।

सामान्य इच्छा और सदैव न्यायशील है: सामान्य इच्छा सदैव न्यायशील होती है क्योंकि उसका उद्देश्य सदैव सामान्य होता है। रूसो के अनुसार- "सामान्य इच्छा सदैव ही विवेकपूर्ण एवं न्यायसंगत होती है क्योंकि जनता की वाणी वास्तव में देववाणी होती है। यह सभी की सामूहिक सदिच्छा है। इसमें कोई सदस्य अन्यायपूर्ण कार्य नहीं करसकता।

सामान्य इच्छा स्वतन्त्रता और समानता की पोषक है: रूसो के अनुसार- "सामाजिक संविदा में यह बात निहित है कि जो कोई भी सामान्य इच्छा की अवज्ञा करेगा तो उसे सम्पूर्ण समाज द्वारा ऐसा करने के लिए विवश किया जाएगा।" इसका अर्थ है कि उसे स्वतन्त्र होने के लिए बाध्य किया जाएगा क्योंकि यह वही शर्त है जो कि प्रत्येक व्यक्ति को उद्देश्य को देकर उसकी समस्त व्यक्तिगत अधीनता को सुरक्षित करती है। सामान्य इच्छा ही सभ्य समाज में स्वतन्त्रता को स्थापित करने का उपाय है। राज्य की अधीनता में सभी को समान अधिकार होते हैं और सभी को समान कानूनों का पालन करना पड़ता है, इसलिए सम्प्रभु समानता का पोषक है।

सामान्य इच्छा अचूक होती है: रूसो के अनुसार सामान्य इच्छा कोई गलती नहीं करती। "यह सदैव न्यायोचित होती है और सदैव सार्वजनिक हित के लिए प्रयत्नशील रहती है।" यह सभी व्यक्तियों की आदर्श इच्छाओं का योग होने के कारण न्यायसंगत व उचित होती है।

सामान्य इच्छा अपने को कानून द्वारा अभिव्यक्त करती है: रूसो सिर्फ उन्ही मौलक कानून को कानून मानता है जिनसे संविधान का निर्माण होता है। मौलिक कानूनों की उत्पत्ति सामान्य इच्छा से होती है। सामान्य इच्छा का कार्य कानून बनाना है, उन्हें लागू करना नहीं। कानून का उद्देश्य किसी विशेष व्यक्ति या वर्ग का हित न होकर सार्वजनिक कल्याण होता है। अत: रूसो की इच्छा की अभिव्यक्ति का माध्यम कानून ही है।

सामान्य इच्छा का स्वरूप अवैयैयक्तिक और निस्वार्थ है: रूसो के अनुसार सामान्य हित के लिए सामान्य इच्छा का जन्म होता है। अत: वह सामान्य

हित के मार्ग से हटकर कार्य नहीं कर सकती। वह सदैव जनकल्याण और जन-सेवा की भावना से प्रेरित होती है। अत: यह निस्वार्थ और अवैयक्तिक है।

सामान्य इच्छा कार्यपालिका की इच्छा नहीं हो सकती: सामान्य इच्छा का कार्य केवल कानून बनाना है, उसे लागू करना नहीं। कानून को लागू करना सरकार का काम है। रूसो समुदाय और सरकार में भेद करते हुए कहता है कि कानून को लागू करना सम्प्रभु सत्ताधारी राजनीतिक समुदाय का काम नहीं है, यह तो सरकार का है। जिस समय सामान्य इच्छा सरकार के कार्य अर्थात् कानून को लागू करने का प्रयास करेगी, सामान्य इच्छा कहलाने से वंचित हो जाएगी। अत: सामान्य इच्छा कार्यपालिका की इच्छा नहीं हो सकती।

सामान्य इच्छा के निहितार्थ

रूसो के अनुसार सामान्य इच्छा के निहितार्थ हैं:-

सामान्य इच्छा सभी कानूनों का स्रोत है। इसका कार्य कानून बनाना है।

सामान्य इच्छा हमेशा जनकल्याण के लिए होती है। प्रत्येक व्यक्ति उसकी आज्ञा का पालन करने के लिए बाध्य होता है।

न्याय का निर्धारण सामान्य इच्छा से होता है। सामान्य इच्छा जितनी अधिक सामान्य होती है, उतनी ही न्यायपूर्ण होती है।

राज्य में मनुष्यों की सावयविक एकता सामान्य इच्छा का महत्त्वपूर्ण परिणाम है।

सामान्य इच्छा का लक्ष्य सदैव सामान्य हित होता है। अत: सामान्य इच्छा सम्पूर्ण समाज के कल्याण के लिए सदैवप्रयत्नशील रहती है।

यह सदैव सार्वजनिक हित का पोषण करने वाली होती है।

सामान्य इच्छा सदैव न्यायपूर्ण होती है।

सामान्य इच्छा सिद्धान्त का महत्त्व

रूसो के सामान्य इच्छा सिद्धान्त का महत्त्व निम्न तथ्यों के आधार पर आँका जा सकता है:-

आदर्शवादी विचारधारा पर प्रभाव: रूसो के इस सिद्धान्त ने हीगल, काण्ट और ग्रीन जैसे आदर्शवादियों पर गहरा प्रभाव डाला है। काण्ट ने रूसो की तरह सामान्य इच्छा को कानून का स्रोत माना है। काण्ट की 'शुभ इच्छा', विवेक का आदेश' का सिद्धान्त रूसो से प्रेरित है। हीगल का विश्वात्मा का विचार भी

रूसो की सामान्य इच्छा के समान है। ग्रीन भी राज्यका आधार इच्छा को मानता है। अतः रूसो के सामान्य इच्छा सिद्धान्त के आदर्शवाद को प्रभावित किया।

राष्ट्रवाद के प्रेरकः रूसो की सामान्य इच्छा में राष्ट्रवाद के प्रेरक तत्त्व-एकता, समता, समपर्ण् , आत्मीयता तथा सम्मानकी भावना आदि का समोवश है। अतः यह राष्ट्रवाद का प्रेरक है।

लोकतन्त्रीय व्यवस्था का समर्थकः रूसो की सामान्य इच्छा बहुमत द्वारा व्यक्त होती है और बहुमत ही लोकतन्त्र काआधार है। रूसो के इस सिद्धान्त ने लोकतान्त्रिक व्यवस्था के लिए एक आदर्श प्रस्तुत किया है। उसने सार्वजनिक हितको प्रधानता देकर लोकतन्त्र का समर्थन किया है।

राज्य का आधार जनसमूह की इच्छा है शक्ति नहींः रूसो ने स्पष्ट कर दिया है कि राज्य का आधार जनसमूह की इच्छा है, शक्ति नहीं। यह राज्य के आंगिक सिद्धान्त का बोध कराता है। सार्वजनिक हित को व्यक्तिगत हितों से ऊपर रखता है। यह स्वार्थ की जगह परमार्थ की सीख देता है। यह व्यक्ति को पाशविक स्तर से उठाकर नैतिक स्तर पर प्रतिष्ठित करना चाहता है। अतः राज्य की प्रमुख शक्ति जन-इच्छा है, बल नहीं।

राज्य का उद्देश्य जनकल्याण हैः रूसो के इस सिद्धान्त के अनुसार आधुनिक कल्याणकारी राज्य का जन्म होता है। इस सिद्धान्त ने राज्य का उद्देश्य जन-कल्याण है। राज्य किसी वर्ग-विशेष का प्रतिनिधि न होकर सार्वजनिक हित के लिए है।

सामान्य इच्छा सिद्धान्त की आलोचनाएँ

अपने महत्त्वपूर्ण योगदान के बावजूद भी रूसो के सामान्य इच्छा सिद्धान्त की आलोचनाएँ हुई हैं :-

अस्पष्टताः रूसो के सामान्य इच्छा सिद्धान्त में अस्पष्टता पाई जाती है। रूसो यह बताने में असमर्थ रहा है कि हम सामान्य इच्छा को कैसे और कहाँ प्राप्त कर सकते हैं। रूसो ने हमें ऐसी स्थिति में छोड़ दिया है, जहाँ हम सामान्य इच्छा के बारे में नहीं जान सकते। वेपर के अनुसार- "जन सामान्य इच्छा का पता ही हमें रूसो नहीं दे सकता तो इस सिद्धान्त के प्रतिपादन का क्या लाभ हुआ।" रूसो द्वारा सामान्य इच्छा की व्याख्या सामान्य इच्छा को समझने के लिए अपर्याप्त है। कहीं-कहीं पर रूसो बहुमत की इच्छा को सामान्य मान लेता है। वह स्वयं स्पष्ट करता है कि बहुमत गलती कर सकता है, जबकि सामान्य इच्छा

गलती नहीं कर सकती। अत: इस सिद्धान्त में भ्रामकता, कल्पना और अस्पष्टता का दोष विद्यमान है।

रूसो का सामान्य इच्छा का सिद्धान्त प्रतिनिधि लोकतन्त्र के लिए अनुपयुक्त है। सामान्य इच्छा की प्रभुसत्ता की व्याख्या करते हुए रूसो ने यह विचार प्रकट किया है कि प्रभुसत्ता का प्रतिनिधित्व नहीं हो सकता अर्थात् सभी नागरिक प्रत्यक्ष रूप से शासन में भाग लेते हैं। परन्तु यह आधुनिक राज्यों में सम्भव नहीं है। इसमें केवल जन-प्रतिनिधि ही शासन कार्यों में भाग लेते हैं।

रूसो ने यथार्थ इच्छा तथा वास्तविक इच्छा में भेद किया है। यह विभाजन काल्पनिक व कृत्रिम है।

रूसो का सामान्य इच्छा का सिद्धान्त सार्वजनिक हित के लिए है। उसका विचार है कि सामान्य इच्छा का लक्ष्य जनकल्याण है। सार्वजनिक हित की परिभाषा देना कठिन काम है। तानाशाह भी अपने कार्यों को उचित सिद्ध करने के लिए सार्वजनिक हित का बहाना बना सकता है।

सामान्य इच्छा आधुनिक युग के बड़े राज्यों के लिए अनुपयुक्त है। जनसंख्या की कमी के कारण छोटे राज्यों में सामान्य इच्छा का पता लगाना आसान है, बड़े राज्यों में नहीं।

रूसो के सामान्य इच्छा की व्याख्या पर भी आलोचकों ने प्रहार किया है। रूसो वास्तविक इच्छाओं के योग को सामान्यइच्छा का नाम देता है। टोजर के अनुसार- "यह भी सम्भव है कि व्यक्तिगत इच्छाएँ एक-दूसरे को नष्ट न करें।"

रूसो के पास समस्त की इच्छा और सामान्य इच्छा में अन्तर करने का कोई मापदण्ड नहीं है।

सामान्य इच्छा की एक आलोचना यह भी है कि "जहाँ तक यह सामान्य होती है, यह इच्छा नहीं होती, जहाँ तक यहइच्छा होती है, यह सामान्य नहीं होती।" इसका अर्थ यह है कि इच्छा व्यक्तिगत ही हो सकती है, सामान्य नहीं। सामान्य इच्छा सामान्य तभी होती है जब व्यक्तियों का मन अलग नहीं हो, परन्तु ऐसा नहीं होता। प्रत्येक व्यक्ति का मन अलग-अलग होता है, जिसमें स्वार्थ और नि:स्वार्थ इच्छाएँ पनपती हैं।

रूसो के सिद्धान्त में व्यक्ति अपने समस्त अधिकारों तथा शक्तियों को सामान्य इच्छा के सामने समर्पित कर देता है जो कि सर्वोच्च शक्ति के रूप में शासन करती है। बहुमत से सहमत न होने वाले व्यक्ति को बहुमत के सामने

झुकने के लिए विवश किया जाता है। रूसो का उद्देश्य व्यक्तिगत स्वतन्त्रता को सुरक्षित करना था परन्तु उसने किसी संरक्षण की व्यवस्था नहीं की।

रूसो की धारणा काल्पनिक है। रसेल, ब्राऊन, मुरे आदि विचारकों ने उस पर अधिनायकवाद और सर्वसत्तधिकारवादी होने का आरोप लगाया है। राईट के अनुसार- "रूसो की सामान्य इच्छा एक हवाई उड़ान है। वह एक ऐसी तर्क ना है जो तथ्यों की पहुँच से परे तथा परिणामों की चिन्ता से ऊपर शून्य उड़ान भरती है।"

यह अव्यावहारिक है। रूसो का मानना है कि सभी नागरिक प्रत्यक्ष रूप से शासन कार्यों में भाग लेते हैं। यह स्थिति यूनान के नगर राज्यों पर ही लागू हो सकती है। आधुनिक युग तो अप्रत्यक्ष या प्रतिनिधि प्रजातन्त्र का युग है।

रूसो के सामान्य इच्छा सिद्धान्त में तार्किक असंगति है। एक तरफ तो रूसो कहता है कि प्रभुसत्ता का प्रतिनिधित्व नहीं हो सकता और दूसरी ओर वह बहुमत के माध्यम से सामान्य इच्छा के प्रतिनिधित्व की सम्भावना प्रस्तुत करता है।

सामान्य इच्छा अनैतिहासिक तथा काल्पनिक है। इतिहास में इस बात का कोई वर्णन नहीं मिलता कि राज्य की उत्पत्ति समझौते द्वारा हुई हो।

यह सिद्धान्त दलों द्वारा तथा गुटों का विरोध करता है। आधुनिक प्रजातन्त्र के सफल संचालन में राजनीतिक दलों काबहुत महत्त्व है।

अत: निष्कर्ष तौर पर कहा जा सकता है कि रूसो का सामान्य इच्छा का सिद्धान्त अनेक त्रुटियों से ग्रस्तहोने के बावजूद भी आधुनिक राजनीतिक विचारकों के लिए अमूल्य सामग्री पेश करता है। उसके इस सिद्धान्त का आदर्शवादियों पर बहुत अधिक प्रभाव पड़ा। उसने मार्क्स व हीगल जैसे विचारकों को भी प्रभावित किया है। लोकतन्त्रीय व्यवस्था का समर्थक होने के साथ-साथ यह सिद्धान्त फ्रांस में राज्य-क्रान्ति का सूत्रधार भी है। रूसो ने स्पष्ट किया है कि नैतिकता, न्याय और सद्‌गुण के अभाव में लोकतांत्रिक संस्थाएँ महत्त्वहीन हैं। रूसो विश्व क्रान्तियों के प्रेरणा-स्रोत रहे हैं। उसकी राजनीतिक चिन्तन के इतिहास में यह अमूल्य देन है।

रूसो का सम्प्रभुता का सिद्धान्त

रूसो के सम्प्रभुता सम्बन्धी विचार उसके 'सामाजिक अनुबंध सिद्धान्त' से सम्बन्धित है। इस सिद्धान्त में रूसो ने निरंकुशवाद एवं उदारवाद जैसे दो

परस्पर विरोधी विचारों को समन्वित करने का प्रयास किया है। रूसो के सिद्धान्त में सामाजिक समझौता, सम्प्रभुता और सामान्य इच्छा की धारणाएँ परस्पर इस प्रकार जुड़ी हुई हैं कि एक के बिना दूसरे की व्याख्या नहीं की जा सकती। समप्रभुता की आधुनिक धारणा का विकास बोदाँ के सिद्धान्त से प्रारम्भ हुआ, जिसे हॉब्स ने और अधिक स्पष्ट किया। बोदाँ और हॉब्स ने निरंकुश सम्प्रभुता का समर्थन किया। लॉक और माण्टेस्क्यू ने सम्प्रभुता के सिद्धान्त की उपेक्षा की। उन्होंने इसे व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का शत्रु माना। रूसो ने लॉक के उदारवाद तथा हॉब्स के निरंकुशवाद में सामंजस्य स्थापित करने का प्रयास किया है।

रूसो के अनुसार समुदाय सभी मनुष्यों के योग से बनता है। इस समुदाय में सामान्य इच्छा का निवास है जो सर्वोच्च होती है। जब समुदाय सामान्य इच्छा द्वारा संचालित होता है, तो वह सम्प्रभु कहलाता है। परन्तु जब वह निष्क्रिय होता है तो वह राज्य कहलाता है। रूसो के अनुसार सामान्य इच्छा ऐसी प्रभुसत्ताधारी है जो लॉक के लोकप्रिय प्रभुसत्ताधारी और हॉब्स के पूर्ण सत्ताधारी प्रभु के समन्वय का प्रतीक है।

रूसो सम्प्रभुता को परिभाषित करते हुए कहता है- "सम्प्रभुता सामान्य इच्छा की कार्यान्विति है"। दूसरे शब्दों में रूसो के राज्य में सामान्य इच्छा हीसम्प्रभु है। रूसो के अनुसार- "जिस प्रकार प्रकृति ने मानव को अपने सभी अंगों के ऊपर निरपेक्ष शक्ति प्रदान की है, उसी प्रकार सामाजिक समझौता राजनीतिक समाज को अपने सभी सदस्यों पर असीम शक्ति प्रदान करता है और यही असीम शक्ति जब सामान्य इच्छा के द्वारा निर्देशित होती है तो सम्प्रभुता का नाम धारण कर लेती है। इस प्रकार रूसो के अनुसार सामाजिक समझौता द्वारा उत्पन्न समुदाय सम्प्रभु होता है। रूसो की मान्यता है कि संधीकरण का कार्य एक नैतिक तथा सामूहिक सत्ता को जन्म देता है। इस सत्ता का अपना अस्तित्त्व, जीवन व इच्छा होती है। रूसो इस इच्छा को सामान्य इच्छा कहता है। इसी सामान्य इच्छा में सम्प्रभुता निवास करती है। रूसो के अनुसार सामाजिक समझौता राजनीतिक समाज को अपने सभी सदस्यों पर निरंकुश शक्ति प्रदान करता है। सामान्य इच्छा द्वारा निर्देशित होने पर यह शक्ति सम्प्रभुता होती है। अत: सम्प्रभुता समपूर्ण समाज में निहित है, वह सर्वोच्च शक्ति है। उसके विरुद्ध किसी को भी विद्रोह करने का अधिकार नहीं है, क्योंकि वह जनता की शक्ति की प्रतीक है।" रूसो के अनुसार सम्प्रभुत्ता सम्पूर्ण समाज में निहित है। प्रत्येक व्यक्ति समझौते में भागीदार होने के कारण सम्प्रभुता का भी भागीदार है। किसी को उसके विरुद्ध

विद्रोह का अधिकार नहीं है। अत: रूसो ने जनता की सत्ता का प्रतिपादन करके 'लोकप्रिय प्रभुसत्ता के सिद्धान्त' का प्रतिपादन किया है। रूसो के शब्दों में- "प्रभुसत्ता का प्रत्येक कार्य अर्थात् लोकमत का प्रत्येक अधिकृत कार्य सभी नागरिकों के लिए समान रूप से हितकर हो।" प्रभुसत्ता लोकमत में होती है। रूसो का सम्प्रभु सारा समाज है। इसलिए आलोचक कहते हैं कि यह हॉब्स का 'लेवियाथन' है जिसका सिर काट दिया गया है।

सम्प्रभुता की विशेषताएँ

प्रभुसत्ता अहस्तान्तरणीय है: प्रभुसत्ता जनता में निहित होती है और उसे वहीं रहना चाहिए। रूसो कहता है- "मैं कहता हूँ कि प्रभुसत्ता केवल लोकमत का कार्यान्वयन होने के कारण भी हस्तान्तरणीय नहीं हो सकती। शक्ति को तो हस्तान्तरिक किया जा सकता है, प्रभुसत्ता का नहीं।" यदि सम्प्रभु अपनी सम्प्रभुता का हस्तान्तरण करता है तो उसका अस्तित्त्व ही नष्ट हो जाएगा।

प्रभुसत्ता अविभाज्य है: जिस प्रकार सम्प्रभुता का हस्तान्तरण नहीं हो सकता, उसी प्रकार सम्प्रभुता अविभाज्य भी है। मत का एक गुण यह होता है कि वह एकता युक्त तथा अविभाज्य होता है। यदि लोकमत का विभाजन करेंगे तो वह नष्ट हो जाएगा। इसलिए लोकमत ही सम्प्रभुता हो सकती है। प्रभुसत्ता का कार्यपालिका, विधानपालिका व न्यायपालिका में विभाजन वास्तव में प्रभुसत्ता का विभाजन न होकर उसके कार्यों का विकेन्द्रीयकरण है। इसके बाद भी सम्प्रभुता अविभाज्य रूप में जनता में निवास करती है। प्रभुसत्ता के विभाजन का अर्थ है पहले उसे अपने स्थान से हटाना।

प्रभुसत्ता अदेयेय है: रूसो के अनुसार किसी समुदाय को प्रभुसत्ता से दूर नहीं हटाया जा सकता। इसलिए यह अदेय है। रूसो के शब्दों में- "जिस कारण से प्रभुसत्ता अदेय है, उसी कारण से अविभाज्य भी है।" अत: रूसो की सम्प्रभुता अदेय है। जिस प्रकार किसी व्यक्ति के शरीर से उसके प्राण को पृथक् नहीं किया जा सकता, उसी प्रकार सामान्य इच्छा से सम्प्रभुता को अलग करना सम्भव नहीं है। इसका हस्तान्तरण भी सम्भव नहीं है।

प्रभुसत्ता का प्रतिनिधित्व नहीं हो सकता: रूसो के अनुसार- "चूँकि सम्प्रभुता अदेय होती है और सामान्य इच्छा में निहित रहती है। सामान्य इच्छा का प्रतिनिधित्व नहीं किया जा सकता, इसलिए सम्प्रभुता का भी प्रतिनिधित्व नहीं हो सकता। प्रभुसत्ता जनता में निहित होने का कारण उसका प्रतिनिधित्व नहीं हो

सकता। "जैसे कोई जाति अपना प्रतिनिधि नियुक्त करती है, वह स्वतन्त्र नहीं रहती तथा अपने अस्तित्त्व को खो देती है।"

सम्प्रभुता असीम है: सामाजिक समझौते के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति अपने प्राकृतिक अधिकार अपने सामूहिक अस्तित्त्व को समर्पित कर देता है। अत: प्रभुसत्ताधारी पूर्ण सत्ता सम्पन्न हो जाती है। सिद्धान्त के विरोध का अधिकार किसी को नहीं है तथा प्रभुसत्ताधारी के आदेश का पालन होता है।

रूसो के अनुसार सम्प्रभुता सभी कानूनों का स्त्रोत है: राज्य के समस्त कानून सम्प्रभु के द्वारा निर्मित होते हैं। सम्प्रभु कानून द्वारा अपनी इच्छा को व्यक्त करता है और अपने सारे कार्यों का सम्पादन करता है। सम्प्रभुता दोषातीत है, क्योंकि यह सामान्य इच्छा पर आधारित है। इससे त्रुटि की अपेक्षा नहीं की जा सकती।

सम्प्रभुता एकता स्थापित करने का सूत्र है।

सम्प्रभुता सदैव न्यायशील होती है।

सम्प्रभुता अविच्छेद्यता का गुण भी रखती है। सामान्य इच्छा के रूप में यह जनता में रहती है। अत: इसको जनता सेदूर नहीं किया जा सकता।

उपर्युक्त विशेषताओं के आधार पर यह स्पष्ट हो जाता है कि रूसो जनप्रभुता का उपासक है। उसकी सम्प्रभुता अदेय, अविभाज्य, असीम, दोषातीत है। सम्प्रभुता एकता का प्रतीक तथा कानून का स्त्रोत है। रूसो ने लोकप्रिय प्रभुसत्ता के विचार को आगे बढ़ाया है। उसने सम्प्रभु सामान्य इच्छा को अविभाज्य, अदेय, असीम, अप्रतिनिधिक तथा एकता का सूत्र कहा है। रूसो ने अपने सामान्य इच्छा के सिद्धान्त द्वारा जनता को सम्प्रभु बनाया है।

रूसो का शिक्षा दर्शन

रूसो के अनुसार शिक्षा में तीन महत्वपूर्ण पक्ष हैं- बच्चे की अन्तर्निहित शक्ति, सामाजिक वातावरण तथा भौतिक वातावरण। शिक्षा प्रकृति, मानव या वस्तुओं से ली जा सकती है। तीनों के मध्य सहयोग या समन्वय हो तो आदर्श शिक्षा हो सकती है। पर यह सहयोग सम्भव नहीं है क्योंकि प्रकृति एवं मानव संघर्षरत रहता है। रूसो के शब्दों में ''हम बाध्य हैं मानव या प्रकृति से संघर्ष करने के लिए। आप मनुष्य या नागरिक में से एक का चुनाव कर लें- दोनों को आप साथ-साथ प्रशिक्षित नहीं कर सकते।'' रूसो का चुनाव प्राकृतिक शिक्षा है न कि सामाजिक शिक्षा। रूसो दो तरह की शिक्षा व्यवस्था की बात करता

है- पब्लिक या सार्वजनिक, जो बहुतों के लिए समान है तथा दूसरा प्राइवेट या घरेलू। पब्लिक शिक्षा का संचालन सरकार करती है क्योंकि यह लोकप्रिय सरकार की मूल आवश्यकता है। दि न्यू हेलॉयज् में रूसो प्राइवेट या निजी शिक्षा या घरेलू शिक्षा का वर्णन करता है। इस घरेलू शिक्षा में माँ मुख्य अध्यापिका है। रूसो का विद्यार्थी कोई विशेष बालक नहीं बल्कि सामान्य बालक है। रूसो ने कहा ''हम लोगों को सामान्य को देखना चाहिए न कि विशेष को, अपने विद्यार्थी को हम अमूर्त मानें।'' इस तरह से रूसो मानव के सार्वकालिक एवं सार्वदेशिक प्रकृति पर बल देता है, अत: एमिल को प्रजातांत्रिक शिक्षा का स्रोत माना जाता है। रूसो पहला शिक्षा शास्त्री है जो सार्वजनिक शिक्षा परजोर देता है।

रूसो का शिक्षा- दर्शन इस सिद्धान्त पर आधारित है कि बच्चे को इसतरह से तैयार किया जाय कि वे अपनी स्वतंत्रता का भविष्य में सही उपयोग कर सकें। बड़ों के पूर्वाग्रह से मुक्त रहते हुए बच्चे को अपने बचपन का आनन्द उठाने का अधिकार है।

रूसो के अनुसार बालक की शिक्षा के तीन प्रमुख स्रोत हैं- (i) प्रकृति (ii) पदार्थ (iii) मनुष्य। रूसो के अनुसार बालक का विकास प्रकृति तथा पदार्थ के माध्यम से होता है। मानव यानि अध्यापक जब अपनी ओर से शिक्षा देने लगता है तो बच्चे की स्वाभाविक शिक्षा प्रभावित होती है और कुशिक्षा प्रारम्भहो जाती है। रूसो के अनुसार शिक्षक पर समाज की बुराइयों का इतना अधिक प्रभाव पड़ चुका होता है कि वह बच्चों में सद्गुणों का विकास नहीं कर सकता क्योंकि उसमें स्वयं सद्गुण बचे नहीं रहते हैं। अत: कम से कम प्रारम्भिक स्तर पर बच्चे की शिक्षा में रूसो अध्यापक की कोई भूमिका नहीं देखता है। माता-पिता ही इस अवस्था में बच्चों के सहज शिक्षक होते हैं। उन्हें भी कम से कम हस्तक्षेप करते हुए बच्चे को अपनी प्रकृति के अनुसार विकास करने की स्वतंत्रता मिलनी चाहिए।

शिक्षा का उद्देश्य

रूसो के अनुसार शिक्षा का उद्देश्य मानव को प्रकृति के अनुरूप जीवन जीने के योग्य बनाना है। रूसो सामाजिक संस्थाओं और उनमें विद्यमान रूढ़ियों के कटु आलोचक हैं। वे कहते हैं- ''तुम समाज सम्मत व्यवहार के ठीक विपरीत कार्य करो। और तुम प्राय: सही होगे।'' वे मानवीय सामाजिक संस्थाओं को 'मूर्खता तथा विरोधाभास कासमूह बताते हैं।'' रूसो प्रकृति को ईश्वर निर्मित

मानता है और बच्चे को ईश्वरीय कृति। वह मानता है कि जब तक बच्चा प्रकृति के प्रभाव में रहता है तब तक वह सद्गुणी, शुभ तथा पवित्र रहता है परन्तु मानव के हस्तक्षेप से उसमें गिरावट आने लगती है। इस प्रकार रूसो के अनुसार शिक्षा का उद्देश्य बालकों में अन्तर्निहित प्रकश्त स्वभाव एवं गुणों को सुरक्षित रखना है। रूसो ने शिक्षा को केवल अभिजात्य वर्ग तक ही सीमित न रखकर उसे जन सामान्य तक पहुँचाने का प्रयास किया। रूसो ने अमीर घर के बच्चों को भी प्राकृतिक शिक्षा देने की वकालत की। रस्क (2000) के शब्दों में यह अमीर घर के बच्चों को भी गरीबी की शिक्षा देना चाहते थे ताकि भावी जीवन में जो भी स्थिति बने वह सफलतापूर्वक विपत्ति या दुर्भाग्य का सामना कर सके। रूसो सामान्य या प्राकृतिक मानव के आदर्श पर जोर देता है न कि प्लेटो की तरह सुपरमैन के आदर्श पर।

रूसो मजबूत, अच्छे शरीर सौष्ठव का स्वस्थ बच्चा चाहता है। रूसो कमजोर शरीर एवं कमजोर मस्तिष्क के बच्चे को पसन्द नहीं करता है क्योंकि एक स्वस्थ शरीर ही स्वस्थ मन एवं उच्च नैतिक चरित्र का आधार है। रूसोका कहना था '' कमजोर शरीर कमजोर मस्तिष्क का निर्माण करता है।'' रूसो शिक्षा का उद्देश्य नैतिकता का विकास मानते हैं। पर नैतिकता का विकास प्राकृतिक परिणामों के द्वारा होना चाहिए न कि व्याख्यानों के द्वारा। रूसो कहते हैं ''बच्चे के लम्बे अवकाश काल (प्रथम बारह वर्ष) में नैतिक शिक्षा का कोई प्रत्यक्ष पाठ नहीं पढ़ाया जाना चाहिए। एकमात्र नैतिक शिक्षादी जानी चाहिए ''किसी को आघात मत पहुँचाओं।'' रूसो लोक कथाओं द्वारा भी अप्रत्यक्ष रूप से नैतिक शिक्षा देने के विरुद्ध हैं।

छात्र-संकल्पना

रूसो बालक को ईश्वर की पवित्र कृति मानता है। प्रकृति-निर्माता के हाथों से जो भी वस्तु आती है वह पवित्र होती है परन्तु मनुष्य के हाथों में आकर उसकी पवित्रता खत्म होने लगती है। रूसो बालक को जन्म से अच्छा और पवित्र मानता है और यह सुझाव देता है कि बालक के प्रकृत गुणों को शिक्षा के द्वारा समाप्त न किया जाये। रूसो का यह स्पष्ट मत है कि बच्चे को बच्चा रहने दिया जाये- शिक्षा द्वारा कृत्रिम रूप से उसे अल्पावस्था में ही व्यस्क बनाने का प्रयास न किया जाये। मानव-जीवन के क्रम में बचपन का एक स्थान है, निश्चय ही प्रौढ़ को प्रौढ़ और बच्चे को बच्चा मानकर व्यवहार करना चाहिए।

रूसो बालक पर किसी भी तरह के दबाव डाले जाने का विरोधी है। वह समाज की बुराइयों से बच्चे को बचाना चाहता है। वह उसे प्रसन्न देखना चाहता है। रूसो परम्परागत शिक्षा के अवगुणों पर ध्यान खींचते हुए पूछता है ''उस निर्दयी शिक्षा को क्या कहा जाए, जो वर्तमान को अनिश्चित भविष्य के लिये बलिदान करा देती है, जो बालक को सभी तरह से प्रतिबंधित कर उसके जीवन को भविष्य की ऐसी खुशी के लिए दुखमय बना देती है जो शायद वहकभी प्राप्त न कर सके।''

रूसो प्रकृति की व्याख्या 'स्वभाव' की दृष्टि से भी करता है। बालक की रुचि एवं स्वभाव के अनुसार शिक्षा देने की बात सर्वप्रथम कही जाने लगी फलस्वरूप बाल केन्द्रित शिक्षा का आन्दोलन चल पड़ा। पर इन सबके मूल में रूसो की छात्र या बालक संकल्पना ही है।

विद्यार्थी जीवन के सोपान

रूसो ने विद्यार्थी के जीवन को चार भागों में बाँटा है-

शैशवावस्था

बाल्यकाल (12 वर्ष की अवस्था तक)

पूर्व किशोरावस्था (12 से 15 वर्ष) तथा

किशोरावस्था (15 वर्ष से आगे)

रूसो कहते हैं ''प्रत्येक शिक्षा के लिए एक निश्चित समय है और हमें इससे जानना चाहिए।''

(अ) शैशवावस्थाः रूसो का मानना है कि शिक्षा जन्म से ही प्रारम्भ हो जाती है। वे बच्चे की उचित देखभाल का नियम बताते हैं। इस काल में उसके शरीर एवं इन्द्रियों के सही विकास पर ध्यान देना चाहिए। बच्चे की मातृभाषा में वार्तालाप के द्वारा उनमें भाषा की योग्यता का विकास किया जासकता है। रूसो बच्चों में आदतों के विकास का विरोध करता है। वह कहता है ''बच्चे को केवल एक आदत विकसित करने देना चाहिए और वह है किसी भी आदत का नहीं होना।'' इस समय बच्चों को अपनी स्वतंत्रता पर नियंत्रण रखने के लिए तैयार किया जाता है। उसमें आत्म नियंत्रण की भावना भरी जाती है।

(ब) बाल्यकालः इस काल में भी रूसो लड़कों के लिए किसी भी तरह के पाठ्य पुस्तक के उपयोग का विरोध करता है। वह बारह वर्ष तक एमिल

को पुस्तकों से दूर रखना चाहता था। एकमात्र पुस्तक 'राबिन्सन क्रूसो' को छोड़कर। लड़के को निरीक्षण एवं अनुभव के द्वारा सीखने का अवसर मिलना चाहिए। इन्हें अलग से कुछ भी नहीं पढ़ाना चाहिए। इस तरह से निषेधात्मक शिक्षा के संप्रत्यय का विकास हुआ।

निषेधात्मक शिक्षा रूसो के शिक्षा-सिद्धान्त का एक महत्वपूर्ण आयाम है। एमिल के प्रशिक्षण का सिद्धान्त है ''हर तरह के ज्ञान के ग्रहण का एक निश्चित समय होता है, और वह समय है जब बच्चा उसकी आवश्यकता अनुभव करता है।'' रूसो के अनुसार यह एक प्राकृतिक प्रक्रिया है। जबकि परम्परागत पद्धति में विद्यार्थी की आवश्यकता का अनुमान किया जाता है। ''प्रौढ़ो के द्वारा दी गई शिक्षा प्राय: समय पूर्व होती है।'' इस सिद्धान्त के आधार पर ही रूसो बारह वर्ष की आयु तक बच्चे की शिक्षा रोके रहने की बात कहता है। इस समय तक उसे शिक्षा न दी जाये और उसे अवसर दिया जाय कि वह बिना कोई सामाजिक बुराई ग्रहण किये बारह वर्ष तक का समय व्यतीत करे। इसे रूसो ने निगेटिव एडुकेशन (निषेधात्मक शिक्षा) कहा।

रूसो चाहते हैं कि बच्चे में सही कार्य करने की आदत डाली जाय,जो कि नैतिक जीवन का पहला पाठ है। सही और गलत की समझ सामाजिक जीवन के बजाय प्रकृति द्वारा होती है। निर्भरता दो तरह की होती है- वस्तुओं पर निर्भर करना, जो कि प्रकृति का कार्य है, तथा मानव पर निर्भर करना जो कि समाज का कार्य है। वस्तु पर निर्भरता गैर नैतिक है तथा स्वतंत्रता को आघात नहीं पहुँचाती है और न ही दुर्गुणों को जन्म देती है। बारह वर्ष तक की उम्र तक की शिक्षा का प्रमुख सिद्धान्त है ''बच्चे को वस्तुओं पर निर्भर रहने दो। इससे मानव पर निर्भर रहने से स्वतंत्रता मिल जाती है।'' यह गैर नैतिक एवं गैर सामाजिक शिक्षा है। अत: प्रारम्भिक वर्षों की शिक्षा केवल निषेधात्मक होनी चाहिए। इसमें अच्छाइयों या सत्य को पढ़ाना नहीं है वरन् हृदय को बुराइयों तथा गलत होने की भावना से बचाना है। मुख्य सिद्धान्त है समय को बचाया न जाय वरन् इसे व्यतीत करने दिया जाय। इस काल में शरीर, अंगों, इन्द्रियों का व्यायाम होना चाहिए पर मस्तिष्क को निष्क्रिय रहने देना चाहिए।

बच्चे को पुस्तकीय ज्ञान देने की जगह उसे खेलने-कूदने, एवं इच्छानुसार अन्य क्रियाओं को करने की स्वतंत्रता होनी चाहिए। इन क्रिया-कलापों एवं अनुभवों से उसका शरीर शक्तिशाली होगा जिससे मानसिक क्षमता भी बढ़ेगी।

रूसो के अनुसार नैतिक शिक्षा देने के स्थान पर उसे अपने कार्यों के प्राकृतिक परिणाम के आधार पर उचित–अनुचित के विवेक के विकास का अवसर मिलना चाहिए। अत: इस काल में किसी औपचारिक पाठ्यक्रम की आवश्यकता नहीं है।

(स) पूर्व किशोरावस्था: बारह वर्ष की आयु के उपरांत रूसो बच्चों को तीव्रता से शिक्षा देने की बात कहता है। यह तीव्रता संभव है क्योंकि विद्यार्थी अधिक परिपक्व होता है और ज्ञान को अधिक वस्तुगत या मूर्त तथा व्यावहारिक रीति से दिया जाता है। रूसो कहते हैं ''मुझे बारह वर्ष का एक लड़का दीजिए जो कुछ भी नहीं जानता हो लेकिन पन्द्रह वर्ष की अवस्था में वह उतना जानता होगा जितना उस उम्र का लड़का जो शैशवावस्था से ही शिक्षा प्राप्त कर रहा है, पर इस अन्तर के साथ कि तुम्हारा छात्र रट कर चीजों को जानता है जबकि मेरा विद्यार्थी इन चीजों को कैसे प्रयोग किया जाय जानता है।''

रूसो के अनुसार इस स्तर पर प्राकृतिक विज्ञान, भाषा, गणित, काष्ठकला, संगीत, चित्रकला, सामाजिक जीवन तथा व्यावसायिक प्रशिक्षण दिया जाना चाहिए। इस स्तर पर भी पुस्तकों से अधिक जोर विद्यार्थी द्वारा इन्द्रियों के प्रयोग द्वारा अनुभव प्राप्त करने पर होना चाहिए। विज्ञान का अध्ययन लड़के की जिज्ञासा को बढ़ायेगा उसे खोज या अविष्कार हेतु प्रेरित करेगा तथा वह स्वयं सीखने की प्रक्रिया को तेज करेगा। चित्रकला आंखऔर मांसपेशियों को प्रशिक्षित करेगा। शिल्प या हस्त उद्योग लड़के में कार्य करने की क्षमता का विकास करेगा। सामाजिक जीवन में व्यावहारिक अनुभव से वह समझेगा कि मानव एक दूसरे पर निर्भर करेगा, जिससे बच्चा सामाजिक उत्तरदायित्व को समझेगा और उसका निर्वहन करेगा।

रूसो का कहना है कि किताबें ज्ञान नहीं देती है वरन् बोलने की कला सिखाती है। अत: पाठ्यक्रम पुस्तकों पर आधारित न होकर कार्य पर आधारित होना चाहिए। इस काल में किशोर को शिक्षा प्राप्त करने एवं कठिन परिश्रम करने के लिए पर्याप्त समय और अवसर मिलना चाहिए।

(द) किशोरावस्था: शिक्षा के चतुर्थ चरण में रूसो नैतिक तथा धार्मिक शिक्षा पर जोर देता है। नैतिक शिक्षा भी वास्तविक अनुभव के द्वारा होनी चाहिए न कि व्याख्यानों के द्वारा। जैसे कि एक नेत्रहीन व्यक्ति को देखने के बाद

किशोर या नवयुवक में सहानुभूति, प्रेम, स्नेह, दया जैसे भावों का स्वतः संचार होता है। धार्मिक शिक्षा भी इसी तरह से देने का सुझाव रूसो ने दिया पर इसके लिए इतिहास, पौराणिक एवं धार्मिक कथाओं का भी उपयोग किया जा सकता है। धार्मिक एवं नैतिक शिक्षा के अतिरिक्त रूसो शारीरिक स्वास्थ्य, संगीत और यौन शिक्षा को भी महत्व प्रदान करता है।

शिक्षण-विधि

रूसो अपने प्रकृतिवादी सिद्धान्तों को शिक्षण-विधि का आधार बनाता है। बच्चे को पढ़ाये जाने की क्रिया को वह बचपन का अभिशाप मानते है। अगर बच्चे में जानने या सीखने की इच्छा जागश्त हो जायेगी तो वह स्वयं सीख लेगा। रुचि सीखने की पहली शर्त है। हमलोग वैसे पाठ से कुछ भी नहीं सीख सकते जिसे हम नापसन्द करते हैं। उसने शिक्षण-विधि में दो सिद्धान्तों को महत्व दिया-

अनुभव के द्वारा सीखनाः रूसो एमिल को किताबों की बजाय अनुभव के द्वारा शिक्षित होते देखना चाहता था। रूसो पुस्तकों का विरोधी था क्योंकि उसकी दृष्टि में पुस्तक वैसी चीजों के बारे में बोलना सिखाता है जिसे हम जानते नहीं हैं। रूसो प्रथम बारह वर्षों तक बच्चे को पुस्तकों की दुनिया सेअलग रखना चाहता था। केवल राबिन्सन क्रूसो नामक पुस्तक को छोड़कर। यह किताब मानव की प्राकृतिक आवश्यकताओं का बड़े ही सरल ढ़ंग से विश्लेषण करता है। बच्चा इसे आसानी से समझ सकता है और इन आवश्यकताओं को कैसे संतुष्ट किया जाय यह भी सीख सकता है।

कर के सीखनाः रूसो शब्दों द्वारा दी जाने वाली शिक्षा उस हद तक प्रभावशाली नहीं मानता था जिस हद तक कर के सीखने की प्रक्रिया को। वह रट कर सीखने का विरोधी था। वह बच्चों में तर्क, विश्लेषण एवं संश्लेषण कीशक्ति को विकसित करना चाहता था। रूसो परम्परागत शिक्षण-विधि का प्रबल विरोधी था। वह छात्रों को स्वयं निरीक्षण अनुभव एवं विश्लेषण द्वारा सीखने का पक्षपाती था। बच्चे के मस्तिष्क में अध्यापक अपने ज्ञान को ढूँढ़ने का प्रयास न कर उसकी जिज्ञासा को बढ़ाये ताकि वह स्वयं समस्या का समाधान ढूंढ़ सकें जिससे उसका मस्तिष्क विकसित होगा। विज्ञान जिज्ञासा, निरीक्षण, प्रयोग एवं अनुसंधान के माध्यम से ही सर्वोत्तम ढ़ंग से पढ़ाया जा सकता है। रूसो के इन्हीं विचारों के आधार पर बाद में ह्यूरिस्टिक विधि का

विकास किया गया। लम्बे व्याख्यान बच्चे के शिक्षण को अवरोधित करते है क्योंकि यह नई चीजों के लिए बच्चे के भूख को समाप्त करता है। व्याख्यान की जगह बच्चों को स्वयं कर के सीखने का अवसर मिलना चाहिए यह अनुचित है कि पहले हम एक शिक्षण-विधि का विकास कर लें और फिर बच्चे को उस विधि के अनुरूप बनाने का प्रयास करें।

अनुशासन

बच्चे में उचित अनुशासन की भावना की विकास के लिए रूसो के अनुसार, बच्चे को पूर्ण स्वतंत्रता देनी चाहिए। यह अनुशासन के लिए पहला कदम है। बच्चे को अनावश्यक बंधन में रखने से उसमें अनुशासन की भावना के विकास को बाधित करना है। बच्चा अगर प्राकृतिक वातावरण में स्वतंत्र रहेगा तो उसकी अन्तर्निहित शक्तियों का बेहतर विकास होगा। रूसो दण्ड देने के विरुद्ध थे क्योंकि उनका मानना था बच्चे को गलतियों का प्राकृतिक परिणाम के रूप में आना चाहिए। रूसो के अनुसार बच्चे को गलत और सही की समझ नहीं रहती है- लेकिन जब गलती करता है तो उसे पीड़ा या दंड मिलता है और जब वह सही करता है तो आनन्द। इस प्रकार वह प्राकृतिक परिणाम के अनुभव के द्वारा प्रकृति के नियमों को पालन करना सीखता है। अनुशासन के संदर्भ में व्याख्यान उसे अनुशासन से उदासीन बनायेगा। प्रकृति के परिणाम के द्वारा स्वयं बेहतर अनुशासित व्यक्ति बन सकता है। रूसो के अनुसार व्यक्ति को कभी भी आज्ञाकारिता के कारण नहीं बल्कि आवश्यकता के कारण कर्म करना चाहिए।

शिक्षक की भूमिका

रूसो की दृष्टि में अध्यापक की भूमिका प्रशासक की नहीं होनी चाहिए न ही वह सारे ज्ञान का स्रोत है जो बच्चों को मिलना चाहिए। अध्यापक की भूमिका वस्तुतः निरीक्षक (गाइड) एवं सहयोगी की है। अध्यापक उसके दिमाग को सूचनाओं से भरने का प्रयास नहीं करेगा न ही उसके चरित्र को प्रभावित करने का प्रयास करेगा। बच्चा जब किसी चीज को सीखने की आवश्यकता अनुभव करे तो अध्यापक उन परिस्थितयों के निर्माण में सहायता कर सकता है जिससे बच्चा स्वयं सीख सके। मान्टेसरी पद्धति रूसो के इसी सिद्धान्त पर आधारित है। शिक्षा बच्चे की रुचि के अनुसार होनी चाहिए। अध्यापक को अपने

को पृष्ठभूमि में रखना चाहिए ताकि बच्चा अपनी रुचि को प्रदर्शित कर सके और उसके अनुरूप शिक्षा ग्रहण कर सके।

रूसो के द्वारा प्रतिपादित निषेधात्मक शिक्षा में अध्यापक बच्चे की गतिविधि में हस्तक्षेप नहीं करेगा पर उसकी गतिविधियों पर अपनी दृष्टि रखेगा। वह बच्चे से सहानुभूति और स्नेह रखेगा। वह बालक की निश्छलता एवं सादगी को अपने में बनाये रखेगा और बच्चों के साथ खेलते, दौड़ते उन्हीं में से एक हो जायेगा तभी वह बच्चों को धनात्मक परिवेश दे सकता है।

5

अरस्तू

अरस्तु (384 ई.पू.-322 ई.पू.) यूनानी दार्शनिक थे। वे प्लेटो के शिष्य व सिकंदर के गुरु थे। उनका जन्म स्टेगेरिया नामक नगर में हुआ था। अरस्तु ने भौतिकी, आध्यात्म, कविता, नाटक, संगीत, तर्कशास्त्र, राजनीति शास्त्र, नीतिशास्त्र, जीव विज्ञान सहित कई विषयों पर रचना की। अरस्तु ने अपने गुरु प्लेटो के कार्य को आगे बढ़ाया।

प्लेटो, सुकरात और अरस्तु पश्चिमी दर्शन शास्त्र के सबसे महान दार्शनिकों में एक थे। उन्होंने पश्चिमी दर्शनशास्त्र पर पहली व्यापक रचना की, जिसमें नीति, तर्क, विज्ञान, राजनीति और आध्यात्म का मेलजोल था। भौतिक विज्ञान पर अरस्तु के विचार ने मध्ययुगीन शिक्षा पर व्यापक प्रभाव डाला और इसका प्रभाव पुनर्जागरण पर भी पड़ा। अंतिम रूप से न्यूटन के भौतिकवाद ने इसकी जगह ले लिया। जीव विज्ञान उनके कुछ संकल्पनाओं की पुष्टि उन्नीसवीं सदी में हुई। उनके तर्कशास्त्र आज भी प्रासांगिक हैं। उनकी आध्यात्मिक रचनाओं ने मध्ययुग में इस्लामिक और यहूदी विचारधारा को प्रभावित किया और वे आज भी क्रिश्चियन, खासकर रोमन कैथोलिक चर्च को प्रभावित कर रही हैं। उनके दर्शन आज भी उच्च कक्षाओं में पढ़ाये जाते हैं। अरस्तु ने अनेक रचनाएं की थी, जिसमें कई नष्ट हो गई। अरस्तु का राजनीति पर प्रसिद्ध ग्रंथ पोलिटिक्स है।

जन्म

अरस्तु का जन्म 384–322 ई. पू. में हुआ था और वह 62 वर्ष तक जीवित रहे। उनका जन्म स्थान स्तागिरा (स्तागिरस) नामक नगर था। उनके पिता मकदूनिया के राजा के दरबार में शाही वैद्य थे। इस प्रकार अरस्तु के जीवन पर मकदूनिया के दरबार का काफी गहरा प्रभाव पड़ा था। उनके पिता की मौत उनके बचपन में ही हो गई थी।

शिक्षा

पिता की मौत के बाद 17 वर्षीय अरस्तु को उनके अभिभावक ने शिक्षा पूरी करने के लिए बौद्धिक शिक्षा केंद्र एथेंस भेज दिया। वह वहां पर बीस वर्षो तक प्लेटो से शिक्षा पाते रहे। पढ़ाई के अंतिम वर्षो में वो स्वयं अकादमी में पढ़ाने लगे। उनके द्वारा द लायिसियम नामक संस्था भी खोली गई। अरस्तु को उस समय का सबसे बुद्धिमान व्यक्ति माना जाता था जिसके प्रशंसा स्वयं उनके गुरु भी करते थे।

अरस्तु की गिनती उन महान दार्शनिकों में होती है जो पहले इस तरह के व्यक्ति थे और परम्पराओं पर भरोसा न कर किसी भी घटना की जाँच के बाद ही किसी नतीजे पर पहुँचते थे।

प्लेटो के निधन के बाद

347 ईस्वी पूर्व में प्लेटो के निधन के बाद अरस्तु ही अकादमी के नेतृत्व के अधिकारी थे किन्तु प्लेटो की शिक्षाओं से अलग होने के कारण उन्हें यह अवसर नहीं दिया गया। एत्रानियस के मित्र शाषक हिर्मयाज के निमंत्रण पर अरस्तु उनके दरबार में चले गये। वो वहाँ पर तीन वर्ष रहे और इस दौरान उन्होंने राजा की भतीजी पर्लिस नामक महिला से विवाह कर लिया। अरस्तु की ये दूसरी पत्नी थी, उससे पहले उन्होंने पिथियस नामक महिला से विवाह किया था जिसके मौत के बाद उन्होंने दूसरा विवाह किया था। इसके बाद उनके यहाँ नेकोमैक्स नामक पुत्र का जन्म हुआ। सबसे ताज्जुब की बात ये है कि अरस्तु के पिता और पुत्र का नाम एक ही था। शायद अरस्तु अपने पिता को बहुत प्रेम करते थे इसी वजह से उनकी याद में उन्होंने अपने पुत्र का नाम भी वही रखा था। अरस्तु विश्व के महान ज्ञानी गिने जाते हैं

सिकंदर की शिक्षा

मकदूनिया के राजा फिलिप के निमन्त्रण पर वो उनके तेरह वर्षीय पुत्र को पढ़ाने लगे। पिता-पुत्र दोनों ही अरस्तु को बड़ा सम्मान देते थे। लोग यहाँ तक कहते थे कि अरस्तु को शाही दरबार से काफी धन मिलता है और हजारों गुलाम उनकी सेवा में रहते है हालांकि ये सब बातें निराधार थीं। एलेक्जैंडर के राजा बनने के बाद अरस्तु का काम खत्म हो गया और वो वापस एथेंस आ गये। अरस्तु ने प्लेटोनिक स्कूल और प्लेटोवाद की स्थापना की। अरस्तु अक्सर प्रवचन देते समय टहलते रहते थे इसलिए कुछ समय बाद उनके अनुयायी पेरीपेटेटिक्स कहलाने लगे।

अरस्तू और दर्शन

अरस्तु को खोज करना बड़ा अच्छा लगता था खासकर ऐसे विषयों पर जो मानव स्वभाव से जुड़े हों जैसे कि 'आदमी को जब भी समस्या आती है वो किस तरह से इनका सामना करता है?' और 'आदमी का दिमाग किस तरह से काम करता है?' समाज को लोगों से जोड़े रखने के लिए काम करने वाले प्रशासन में क्या ऐसा होना चाहिए जो सर्वदा उचित तरीके से काम करें। ऐसे प्रश्नों के उत्तर पाने के लिए अरस्तु अपने आस-पास के माहौल पर प्रायोगिक रुख रखते हुए बड़े इत्मिनान के साथ काम करते रहते थे। वो अपने शिष्यों को सुबह सुबह विस्तृत रूप से और शाम को आम लोगों को साधारण भाषा में प्रवचन देते थे।

एलेक्सेंडर की अचानक मृत्यु पर मकदूनिया के विरोध के स्वर उठ खड़े हुए। उन पर नास्तिकता का भी आरोप लगाया गया। वो दंड से बचने के लिये चल्सिस चले गये और वहीं पर एलेक्सेंडर की मौत के एक साल बाद 62 वर्ष की उम्र में उनकी मृत्यु हो गयी। इस तरह अरस्तु महान दार्शनिक प्लेटो के शिष्य और सिकन्दर के गुरु बनकर इतिहास के पन्नो में महान दार्शनिक के रूप में अमर हो गये।

कृतियां

अरस्तु ने कई ग्रथों की रचना की थी , लेकिन इनमें से कुछ ही अब तक सुरक्षित रह पाये हैं। सुरक्षित लेखों की सूची इस प्रकार है।

अरस्तु के प्रसिद्ध ग्रंथ का नाम 'पेरिपोइएतिकेस' है।

पोलिटिक्स
निकोमचें एथिक्स
यूदेमियन एथिक्स
रहेतोरिक
पोएटिक्स
मेटाफिजिक्स
प्रोब्लेम्स
हिस्ट्री ऑफ एनिमल्स
पार्ट्स ऑफ एनिमल्स
मूवमेंट ऑफ एनिमल्स
प्रोग्रेशन ऑफ एनिमल्स
जनरेशन ऑफ एनिमल्स
सेंस एंड सेंसिबिलिया
ऑन मेमोरी
ऑन स्लीप
ऑन ड्रीम्स
ऑन दिविनेशन इन स्लीप
ऑन लेनथ एंड शोर्तनेस ऑफ लाइफ
ऑन यूथ, ओल्ड ऐज, लाइफ एंड डेथ एंड रेसिपिरेशन
फिजिक्स
ऑन दी हेअवेंस
ऑन जेंराशन एंड करप्शन
मेतेरोलोजी
ऑन दी यूनिवर्स
ऑन दी सोल

अरस्तु के अनमोल विचार।

अच्छा लिखने के लिए खुद को एक आम इंसान की तरह व्यक्त करो, लेकिन सोचो एक बुद्धिमान आदमी की तरह।

सीखना कोई बच्चों का खेल नहीं है– हम बिना दर्द के नहीं सीख सकते हैं।

बिना पागलपन के स्पर्श के किसी भी महान दिमाग अस्तित्त्व नहीं होता है।

हमारे जीवन के गहनतम अंधकार के वक्त हमें अपना ध्यान रोशनी पर केंद्रित करना चाहिए।

शिक्षित मन की यह पहचान है की वो किसी भी विचार को स्वीकार किए बिना उसके साथ सहज रहे।

अरस्तु का अनुकरण सिद्धांत

अरस्तु का अनुकरण सिद्धांत एक स्तर पर प्लेटो का अनुकरण सिद्धांत की प्रतिक्रिया है और दूसरे स्तर पर उसका विकास भी। महान दार्शनिक प्लेटो ने कला और काव्य को सत्य से तिहरी दूरी पर कहकर उसका महत्व बहुत कम कर दिया था। उसके शिष्य अरस्तु ने अनुकरण में पुनर्रचना का समावेश किया। उनके अनुसार अनुकरण हूबहू नकल नहीं है बल्कि पुनः प्रस्तुतिकरण है जिसमें पुनर्रचना भी शामिल होती है। अनुकरण के द्वारा कलाकार सार्वभौम को पहचानकर उसे सरल तथा इन्द्रीय रूप से पुनः रूपागत करने का प्रयत्न करता है। कवि प्रतियमान संभाव्य अथवा आदर्श तीनों में से किसी का भी अनुकरण करने के लिये स्वतंत्र है। वह संवेदना, ज्ञान, कल्पना, आदर्श आदि द्वारा अपूर्ण को पूर्ण बनाता है।

अनुकरण के महत्त्व के कारण

यहाँ एक जिज्ञासा स्वाभाविक रूप से होती है कि अरस्तू ने काव्य-विवेचन में अनुकरण को इतना महत्व क्यों दिया? इस सन्दर्भ में निम्नलिखित कारणों का उल्लेख किया जा सकता है- (1) अरस्तू से पूर्व उनके गुरु प्लेटो ने काव्य तथा अन्य कलाओं को अनुकृति व्यापार दर्शन से सम्बद्ध होने के कारण हीन माना था। अरस्तू ने उसे मात्र काव्य और सृष्टि के सम्बन्ध में ग्रहण किया। इससे उन्होंने अनुकरण का अर्थ और उसकी ध्वनियों को परिवर्तित कर दिया। (2) अरस्तू ने प्लेटो के समान चित्र और काव्य को स्पष्ट रूप से अनुकरण-मूलक कहा है। (3) अरस्तू काव्य में त्रासदी को सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण काव्य के रूप में मानते हैं। उनका समस्त काव्य-विवेचन त्रासदी के विवेचन के सन्दर्भ में हुआ है। त्रासदी में अनुकरण की प्रधानता होती है, अतः अरस्तू के काव्य-विवेचन में अनुकरण की प्रधानता होना स्वाभाविक है। (4) ग्रीक भाषा में कवि के लिए

'पोयतेस' शब्द का प्रयोग हुआ है जिसका व्युत्पत्यर्थ है- कर्त्ता या रचयिता। कवि घटनाओं का कर्त्ता नहीं अनुकर्त्ता माना जा सकता है। इस प्रकार अनुकरण की प्रधानता का सम्बन्ध 'पोयतेस' के व्युत्पत्यर्थ से जुड़ जाता है।

अरस्तू के व्याख्याकार

अनेक आलोचकों ने अरस्तू की भिन्न-भिन्न प्रकार से व्याख्या की है, किन्तु एक बात में सभी सहमत हैं कि अरस्तू ने अनुकरण का प्रयोग प्लेटो की भाँति स्थूल यथावत् प्रतिकृति के अर्थ में नहीं किया।

(1) प्रो. बूचर का मत है कि अरस्तू के अनुकरण का अर्थ है- ''सादृश्य विधान अथवा मूल का पुनरुत्पादन, सांकेतिक उल्लेखन नहीं।'' कोई भी कलाकृति मूल वस्तु का पुनरुत्पादन जैसी वह होती है। वैसे नहीं अपितु जैसी वह इन्द्रियों को प्रतीत होती है वैसा करती है। कलाकृति, इन्द्रिय-बोध सापेक्ष पुनः सृजन है, यथातथ्य अनुकरण नहीं। कला का संवेदन तत्त्व गृहिणी बुद्धि के प्रति नहीं अपितु भावुकता और मन की मूर्ति विधायिनी शक्ति के प्रति होता है।

(2) प्रो. गिल्बर्ट मरे ने यूनानी शब्द 'पोयतेस' (कर्त्ता या रचयिता) को आधार मानकर अनुकरण की व्युत्पत्तिपरक व्याख्या प्रस्तुत की है। उनके अनुसार कवि शब्द के पर्याय में ही अनुकरण की धारणा निहित है, किन्तु अनुकरण का अर्थ सर्जना का अभाव नहीं।

(3) यॉट्स का मत - इनके अनुसार, ''अपने पूर्ण अर्थ में अनुकरण का आशय जैसे प्रभाव का उत्पादन, जो किसी स्थिति, अनुभूति तथा व्यक्ति के शुद्ध प्रकृति रूप से उत्पन्न होता है।'' वस्तुतः इनके अनुसार अनुकरण का अर्थ है- ''आत्माभिव्यंजन से भिन्न जीवन का अनुभूति का पुनः सृजन।''

(4) स्कॉट जेम्स का मत- इन्होंने अनुकरण को जीवन के कल्पनात्मक पुनर्निर्माण का पर्याय माना है। इनकी दृष्टि से- ''अरस्तू के काव्यशास्त्र में अनुकरण से अभिप्राय है साहित्य में जीवन का वस्तुपरक अंकन, जिसे हम अपनी भाषा में जीवन का कल्पनात्मक पुन र्निर्माण कह सकते हैं।''

ये व्याख्याएँ अपने आप में महत्त्वपूर्ण हैं। फिर भी अरस्तू के शब्दों को प्रमाण मानकर अनुकरण का विवेचन करना समीचीन होगा।

कला और प्रकृति

कला प्रकृति की अनुकृति है। यह कला और अनुकरण दोनों तत्त्वों का विवेचन का मूल सूत्र है। यहाँ अनुकरण की अपेक्षा प्रकृति शब्द का अधिक विवेच्य है। होरेस के आधार पर नव्यशास्त्रवादियों ने प्रकृति का अर्थ किया- नीति, नियमों से परिबद्ध जीवन और अनुकरण का अर्थ किया - यथावत् प्रत्यंकन, इस प्रकार अरस्तू का यह सूत्र रीतिबद्ध काव्य-रचना का प्रेरक मन्त्र बन गया। किन्तु प्रकृति के अर्थ को इस प्रकार सीमित करने का कोई कारण नहीं है।

यहाँ प्रकृति जीवन के समग्र रूप अर्थात् अन्तर्बाह्य, दोनों रूपों की समष्टि का पर्याय है। इसमें स्थूलगोचर रूप अरस्तू को अभिप्रेत नहीं है, अर्थात् मानवेतर प्रकृति का अनुकरण करना अनुकरणात्मक कला का नाम नहीं है। कवि या कलाकार प्रकृति की सर्जन-प्रक्रिया का अनुकरण करता है। अनुकरण का विषयागोचर वस्तुएँ न होकर उनमें निहित प्रकृति-नियम है। अतः अरस्तू के अनुसार- ''प्रत्येक वस्तु पूर्ण विकसित होने पर जो होती है उसे ही हम उसकी प्रकृति कहते हैं।'' प्रकृति इस आदर्श रूप की उपलब्धि की ओर निरन्तर कार्यरत रहती है। किन्तु कई कारणों से वह अपने लक्ष्य की प्राप्ति में सफल नहीं हो पाती। अनुकरण में प्रकृति के इन अभावों को कला द्वारा पूरा किया जा सकता है।

इस प्रकार अनुकरण एक सर्जन-क्रिया है। काव्य-कला प्रकृति की सर्जन-प्रक्रिया अनुकरण करती हुई प्रकृति के अधूरे कार्य को पूर्ण करती है। इसी से काव्य में अनुकरण तत्त्व की महत्ता है।

अनुकरण की वस्तुएँ या विषय

अरस्तू के अनुसार अनुकरण में तीन प्रकार की वस्तुओं में से कोई एक हो सकती है- जैसे वे थीं या है (यथार्थ) जैसी वे कही या समझी जाती हैं (कल्पित यथार्थ), जैसे वे होनी चाहिए (सम्भाव्य यथार्थ)। इन्हीं को क्रमशः प्रतीयमान, सम्भाव्य और आदर्श रूप माना गया है।

कवि को यह स्वतन्त्रता है कि वह वस्तु या विषय को उस रूप में चित्रित करे जैसी वह उसकी इन्द्रियों को प्रतीत होती है अथवा भविष्य में प्रतीत हो सकती है अथवा होनी चाहिए। निश्चय ही इसमें कवि की भावना और कल्पना का योगदान होगा - वह नकल मात्र नहीं होगा। इसी से अरस्तू का अनुकरण

सिद्धान्त-भावना और कल्पनायुक्त अनुकरण को मानकर चलता है, शुद्ध प्रकृति को नहीं।

काव्य सत्य के सम्बन्ध में अपने विचारों को सिद्ध करने के लिए अरस्तू ने कविता और इतिहास पर तुलनात्मक दृष्टि से विचार किया है। इस तथ्य को बूचर ने इस प्रकार स्पष्ट किया है-

अर्थात् कवि-कर्म जो कुछ घटित हो चुका है, उसका वर्णन करना नहीं, वरन् जो कुछ घटित हो सकता है- जो कुछ सम्भावना या अनिवार्यता के नियमाधीन सम्भव है- उसका वर्णन करना है।.. कवि और इतिहासकार में गद्य और पद्य लेखन के कारण भेद नहीं है।.... वरन् उनमें वास्तविक भेद यह है कि एक उसका वर्णन करता है जो घटित हो चुका है तथा दूसरा उसका वर्णन करता है जो घटित हो सकता है। इसलिए कविता इतिहास से अधिक श्रेष्ठ है, क्योंकि कविता सार्वभौम का चित्रण करती है, जबकि इतिहास विशेष का।''

कवि और इतिहासकार में अन्तर

अरस्तू के मतानुसार, ''कवि और इतिहासकार में वास्तविक भेद यह है कि एक तो उसका वर्णन करता है जो घटित हो चुका है और दूसरा उसका वर्णन करता है जो घटित हो सकता है। परिणामतः काव्य में दार्शनिकता अधिक होती है। उसका स्वरूप इतिहास से भव्यतर है, क्योंकि काव्य सामान्य (सार्वभौम) की अभिव्यक्ति है और इतिहास विशेष की।'' इतिहास की घटनाएँ देश-काल की सीमा से बँधकर केवल अपने पृथक् और विशिष्ट रूप में हमारे सामने आती हैं, जबकि काव्य-निबद्ध तथ्य अपने-अपने सार्वभौम रूप में अभिव्यक्त होते हैं। अतः उनकी पुनरावृत्ति सम्भावित होती है। इस प्रकार काव्य और इतिहास सम्बन्धी विवेचन में अनुकरण से है, यथार्थ वस्तुपरक प्रत्यंकन से नहीं।

'कार्य' का अभिप्राय

अरस्तू ने त्रासदी के विवेचन में लिखा है कि त्रासदी मनुष्यों का नहीं वरन् कार्य और जीवन का अनुकरण करती है। 'कार्य' शब्द का प्रयोग उन्होंने मानव-जीवन का चित्र के अर्थ में किया है। उनके अनुसार जो कुछ भी मानव-जीवन के आन्तरिक पक्ष को व्यक्त करे, बुद्धिसम्मत व्यक्तित्त्व का उद्घाटन करे, वह सभी कुछ 'कार्य' के अन्तर्गत आएगा। अतः कार्य का अर्थ

केवल मनुष्य के कर्म ही नहीं, उसके भाव, विचार, चरित्र आदि भी है जो कर्म के प्रति उत्तरदायी होते हैं। अत: अनुकरण का विषय है- क्रियाशील मानव।

अनुकरण और आनन्द

अरस्तू का विचार है कि अनुकूल वस्तु से प्राप्त आनन्द भी कम सार्वभौम नहीं है- ''जिन वस्तुओं का प्रत्यक्ष दर्शन हमें दु:ख देता है, उनका अनुकरण द्वारा प्रस्तुत रूप हमें आनन्द प्रदान करता है। डरावने जानवर देखने से हमें डर लगता है, किन्तु उनका अनुकूल रूप हमें आनन्द प्राप्त करता है।'' अत: अनुकरण आनन्द का तत्त्व अनिवार्यत: निहित होने का अर्थ यही है कि उसमें आत्म-तत्त्व का प्रकाशन निहित रहता है, क्योंकि आनन्द की उपलब्धि आत्मतत्त्व के प्रकाशन के बिना सम्भव नहीं है। अत: अनुकरण निश्चय ही यथार्थ वस्तुपरक अंकन न होकर भावात्मक और कल्पनात्मक होगा।

किन्तु भाव-तत्त्व और उसमें निहित आत्म तत्त्व का सद्भाव होने पर भी अनुकरण विशुद्ध, आत्माभिव्यंजन का पर्याय नहीं है, क्योंकि इसमें वस्तु-तत्त्व की प्रधानता अनिवार्य है। आधुनिक आलोचना शास्त्र की शब्दावली का आश्रय लेकर कहें तो अनुकरण में अभिजात कला के वस्तु-परक भाव-तत्त्व की ही स्वीकृति है, किन्तु रम्याद्भुत कला के व्यक्तिपरक भाव-तत्त्व की नहीं। इस प्रकार उसमें जीवन की अनुभूतियों से निर्मित कवि की अन्तश्चेतना को पर्याप्त महत्त्व नहीं मिला है। अनुकरण में जिन विषयों का विवेचन होता है वे सभी स्थूल व सूक्ष्म होते हुए भी अनुकार्य हैं, परस्थ हैं। उनकी स्थिति अनुकर्त्ता से बाहर है। अत: अनुकरण को व्यक्तिपरक अनुभूति के अभाव में शुद्ध आत्माभिव्यंजन की कोटि में नहीं रखा जा सकता।

अनुकरण की व्याप्ति

प्रश्न है कि अनुकरण सिद्धान्त की व्याप्ति कहाँ तक है? नीति काव्य की वैयक्तिक अनुभूतियों का उद्गीथ अनुकरण की परिधि में कैसे आ सकता है? अरस्तू ने गीतिकाव्य को उपेक्षित कर दिया है। गीत को उन्होंने काव्य का अलंकार मात्र माना है।

अरस्तू का पक्षपाती यह भी तर्क देता है कि जिस प्रकार त्रासदी में दूसरे की अनुभूतियों का अनुकरण सम्भव है, उसी प्रकार गीतिकाव्य में भी अपनी अनुभूतियों का अनुकरण सम्भव है। किन्तु जो स्वयं अभिव्यक्त रूप हैं, उसके

अनुकरण का प्रश्न ही नहीं उठता। अतः अनुकरण शब्द का अर्थ इतना अर्थ-विस्तार सम्भव नहीं है कि गीतिकाव्य को यथावत् उसकी परिधि में अन्तर्भूत किया जा सके, यही उसकी परिसीमा है।

अनुकरण सिद्धान्त का क्रोचे के सहजानुभूति सिद्धान्त से भी साक्षात् विरोध है। क्रोचे के अनुसार, काव्य-कला का जो मौलिक रूप है, वह अनुकरण का विषय नहीं हो सकता और उसका मूर्त्त रूप, जो अनुकरण का विषय है, क्रोचे के अनुसार सर्वथा आनुषंगिक है। अरस्तू के अनुकरण सिद्धान्त में किसी भी प्रकार सहजानुभूति का समावेश नहीं हो सकता। अतः जिस अंश तक क्रोचे का सहजानुभूति सिद्धान्त मान्य है, उसी अंश तक अनुकरण सिद्धान्त अमान्य है।

डॉ. नगेन्द्र ने अनुकरण सिद्धान्त का विवेचन करते हुए स्पष्ट किया है कि सृजन और अनुकरण में भेद है। काव्य में वस्तुओं के मर्म को आकर्षक रीति से उद्घाटित करना कवि-कर्म है। इसके दो पक्ष हैं- वस्तु के मर्म का दर्शन और उसकी शब्दों में अभिव्यक्ति ये दोनों पक्ष अभिन्न हैं। काव्य दोनों की समन्वित क्रिया है, अनुकरण नहीं। कवि की प्रतिभा कारयित्री है अनुकारयित्री नहीं। कवि लौकिक पदार्थों के मार्मिक रूप का उद्घाटन करता है। इसी से काव्य नवनिर्माण है, सृजन है, अनुकरण नहीं। वस्तुतः कवि जीवन में अनुभव में अपना दृष्टिकोण जोड़ देता है और यही दृष्टिकोण सृजन-तत्त्व है। इसी से अनुकरण शब्द का अर्थ विस्तार हो गया है।

अनुकरण की शक्ति और सीमाएँ

शक्ति

(1) अरस्तू के अनुकरण को नया अर्थ प्रदानकर कला का स्वतंत्र अस्तित्त्व स्थापित किया है। सुन्दर को शिव से अधिक विस्तृत माना है।

(2) प्लेटो द्वारा कला पर लगाए गए आक्षेप का निराकरण किया है और कविता दार्शनिक तथा नीतिकार बन्धन से छुटकारा दिलाया है।

(3) उन्होंने अनुकरण की हीनता का उन्नयन किया है। इन विशेषताओं के होते भी उसकी कुछ सीमाएँ हैं।

सीमाएँ

(1) अनुकरण में व्यक्तिपरक भाव-तत्त्व की अपेक्षा वस्तुपरक भाव-तत्त्व को अधिक महत्व दिया, जो निश्चय ही अनुचित है।

(2) कवि की अन्तश्चेतना को उतना महत्त्व नहीं दिया, जितना दिया जाना चाहिए था। इससे उसकी परिधि संकुचित हो गई थी।

(3) विश्व की गीति काव्य संख्या में सर्वाधिक होते हुए भी अनुकरण की परिधि में नहीं समा सकता, क्योंकि उसकी आत्मा है–भाव, जो प्रेरणा के भार से दबकर फूटता है।

(4) कलाकार के मानस में घटित होनेवाले सहजानुभूति सिद्धान्त के अनुसार अनुकरण का कला–सृजन में कोई महत्त्व नहीं, जबकि अरस्तू अनुकरण को ही कला कहता है।

(5) अरस्तू द्वारा अपनाए गए 'मिमेसिस' शब्द की अर्थ–परिधि में 'पुनःसृजन' 'कल्पनात्मक पुनर्निर्माण' आदि अर्थों का अन्तर्भाव नहीं हो सकता है।

निष्कर्ष – सत्य कभी एकदेशीय नहीं होता। उसकी उपलब्धि तो किसी–न–किसी रूप में होती जाती है, किन्तु उपलब्धि की विधि और उसका आधारभूत दृष्टिकोण भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं होता। अरस्तू ने काव्य या कला को प्रकृति का अनुकरण माना है। अतः कला अनुकरण होते हुए भी नवीकरण है, सृजन रूप है।

अरस्तू तथा उसका न्याय–दर्शन

ज्ञान और अध्यात्म के क्षेत्र में गुरु–शिष्य परंपरा का महत्त्व बताया गया है। आज भी है। भारत में सैकड़ों आश्रम और धर्मगुरु हैं। उनके लाखों–करोड़ों भक्त हैं। प्रत्येक गुरु अपने शिष्यों के भौतिक–अधिभौतिक उत्थान का दावा करता है। शिष्य भी मानते हैं कि उनके गुरु अनन्य हैं। वे अपने और गुरु के बीच मर्यादा की लकीर खींचे रहते हैं। जिसके अनुसार गुरु की आलोचना करना, सुनना यहां तक कि मन में गुरु के प्रति भूल से भी अविश्वास लाना पाप माना जाता है। इसी जड़–श्रद्धा के भरोसे गुरुओं का कारोबार चलता है। उस कारोबार में कभी घाटा नहीं आता। जड़–श्रद्धा के बल पर ही गुरु कमाते, भक्त गंवाते हैं। बुद्ध ने जड़–श्रद्धा का निषेध किया था। अपने शिष्यों को उन्होंने अपना दीपक आप बनने(अप्पदीपो भव), उनके पंथ पर सोच–समझकर विश्वास करने(एहि पस्सिक) का आवाह्न किया था–

'जैसे सोने को तपाकर, काटकर और कसौटी पर रगड़कर तरह–तरह से उसकी परीक्षा ली जाती है, उसके शुद्ध अथवा मिलावटी होने का निर्णय लिया जाता है, उसी प्रकार हे पंडितो और भिक्षुओ! मेरे वचनों को

जांच-परखकर स्वीकार करो। केवल मेरे प्रति सम्मान के कारण उन्हें स्वीकार मत करो।'

सभी धर्म-दर्शनों की स्थिति ऐसी नहीं थी। मीमांसक कुमारिल भट्ट को मात्र इस कारण खुद को प्रायश्चिताग्नि के सुपुर्द करना पड़ा था, क्योंकि उन्होंने गुरु की पूर्वानुमति के बिना बौद्ध दर्शन का अध्ययन इसलिए किया था, ताकि शास्त्रर्थ में बौद्ध आचार्यों को पराजित कर वैदिक दर्शनों की श्रेष्ठता सिद्ध कर सकें। उद्देश्य सही था। ज्ञान का भी यही तकाजा था। परंतु तत्कालीन परंपरा को स्वीकार्य न था। कुमारिल अपने उद्देश्य में सफल हुए थे, किंतु गुरु-द्रोह के अपराध के प्रायश्चित-स्वरूप खुद को अग्नि-समर्पित करना पड़ा था। सुकरात, प्लेटो और अरस्तु की गुरु-शिष्य परंपरा में अंध-श्रद्धा के लिए कोई स्थान न था। तीनों परंपरा-पोषण के बजाय उसके परिमार्जन पर जोर देते हैं। उसका आदि-प्रस्तावक सुकरात खुले संवाद में विश्वास रखता था। यह सुनकर कि लोग उसे यूनान का सर्वाधिक बुद्धिमान प्राणी मानते हैं, सुकरात को अपने ही ऊपर संदेह होने लगा था। संदेह दूर करने के लिए वह एथेंस के वुद्धिमान कहे जाने वाले राजनयिकों, दार्शनिकों और तत्त्ववेत्ताओं से मिला। अंततः इस निष्कर्ष पर पहुँचा था कि वह सचमुच सबसे बुद्धिमान है। इसलिए नहीं कि उसे सर्वाधिक ज्ञान है। वह केवल एक चीज दूसरों से अधिक जानता है, वह है– अपने ही अज्ञान का ज्ञान। 'मुझे अपने अज्ञान का ज्ञान है'–कहकर उसने खुद को उन दार्शनिकों, विचारकों और तत्त्ववेत्ताओं से अलग कर लिया था, जिन्हें अपने ज्ञान का गुमान था। उसके लिए ज्ञान से ज्यादा ज्ञानार्जन की चाहत और उसकी कोशिश का महत्त्व था। ज्ञान की मौलिकता के लिए वह संदेह को आवश्यक मानता था। सुकरात की इसी प्रेरणा पर अरस्तु ने मनुष्य को विवेकशील प्राणी माना है। विवेकशीलता में स्वयं अपने ज्ञानानुभवों के पुनरावलोकन की, संदेह की भावना अंतर्निहित है। ज्ञानार्जन के लिए संदेह की अनिवार्यता को रेखांकित करते हुए ग्यारहवीं शताब्दी के फ्रांसिसी विचारक पीटर अबलार्ड ने लिखा था– 'संदेह हमें जांच-पड़ताल के लिए प्रेरित करता है। जांच-पड़ताल हमें सत्य का दर्शन कराती है।' 'सुकरात-प्लेटो और अरस्तु' की त्रयी के विचारों में अंध-श्रद्धा के लिए कोई जगह न थी। हालांकि इस विद्वान-त्रयी को अनुपम और अद्वितीय मानने पर कुछ लेखकों को ऐतराज है।

'पॉलिटिक्स' का अनुवाद करते समय भोलानाथ शर्मा ने 'सुकरात-प्लेटो-अरस्तु' की त्रयी के समकक्ष 'पराशर-व्यास और शुकदेव'

त्रयी का उदाहरण दिया है। इस निष्कर्ष के पीछे उनके पूर्वाग्रह साफ नजर आते हैं। यह ठीक है कि 'पराशर-व्यास और शुकदेव' की पिता-पुत्र-पौत्र त्रयी में भी तीनों लेखक थे। पराशर को भारतीय परंपरा में पुराणों के आदि-रचियता होने का श्रेय दिया जाता है। बताया जाता है कि व्यास ने महाभारत के अलावा पिता के लिखे पुराणों का पुनर्लेखन कर, उन्हें वह कलेवर प्रदान किया जिसमें वे आज प्राप्त होते हैं। तीसरे शुकदेव ने 'भागवत पुराण' लिखकर पुराण साहित्य को समृद्धि प्रदान की थी। बावजूद इसके ये तीनों भारतीय लेखक उस कोटि के मौलिक लेखक-विचारक नहीं हैं, जिस कोटि के 'सुकरात-प्लेटो और अरस्तु' हैं। व्यास की कृति 'महाभारत' अवश्य अलग है। उसमें अपने समय का सामाजिक-सांस्कृतिक एवं राजनीतिक विमर्श मौजूद है, परंतु जिस महाभारत से हम आज परिचित हैं, वह ईस्वी संवत्सर की शुरुआत के आसपास की कृति है, जब देश में एकराष्ट्र की भावना प्रबल थी।

गणतांत्रिक पद्धति पर आधारित छोटे-छोटे राज्यों को अनावश्यक मान लिया गया था। एकराष्ट्र अथवा साम्राज्यवादी सोच का उद्‌भव पूरी दुनिया में लगभग एक साथ हुआ था। भारत में इसका प्रवर्तक चाणक्य था, जबकि यूनान में अरस्तु ने सिकंदर की साम्राज्यवादी महत्त्वाकांक्षाओं का समर्थन करते हुए उसे एशिया पूर्व के छोटे-छोटे देशों को अपने अधीन करने की सलाह दी थी। महाभारत मूलतः धार्मिक ग्रंथ है और उसकी रचना शताब्दियों के अंतराल में एकाधिक लेखकों द्वारा की गई है। दूसरे केवल लेखक होना ही शर्त होती तो एक ही धारा के तीन लेखकों के अनेक उदाहरण दुनिया-भर में मिल जाएंगे। यहां कसौटी ज्ञान की विलक्षणता, मनुष्यता के प्रति अगाध निष्ठा तथा एक-दूसरे से असहमति जताते हुए उसकी ज्ञान-परंपरा को विस्तृत तथा सतत परिमार्जित करने की है—जिसपर यह दार्शनिक त्रयी विश्व-पटल पर अनुपम है। प्लेटो के लेखन के हर हिस्से पर सुकरात की छाप है। इसी तरह अरस्तु के लेखन पर भी प्लेटो का प्रभाव छाया हुआ है, लेकिन प्लेटो सुकरात से तथा अरस्तु प्लेटो से कदम-कदम पर असहमति दर्शाते हैं। प्लेटो से अरस्तु की असहमतियों का दायरा तो इतना बड़ा है कि उन्हें एक ही दर्शन-परंपरा से जोड़ना अनुचित जान पड़ता है। जैसे कि पारिवारिक जीवन का महत्त्व, सुख-स्वास्थ्य प्राप्ति के संसाधन, लोकमत का सम्मान, जनसाधारण की रुचि एवं इच्छाओं का समादर जैसे विषयों पर अरस्तु पर्याप्त उदार था। जबकि प्लेटो ने अपने आदर्श राज्य में सामूहिक

संस्कृति और सहजीवन पर जोर देते हुए परिवार संस्था को अनावश्यक मानते हुए कठोर-अनुशासित जीवन जीने की अनुशंसा की है।

फिर प्रभाव किस बात का है? कौन-सा सूत्र है जो इन तीनों को परस्पर जोड़ता है? इस तारतम्यता को इन्हें पढ़ते हुए आसानी से समझा जा सकता है। एकसूत्रात्मकता 'पराशर-व्यास-शुकदेव' की त्रयी के बीच भी है। अंतर केवल इतना है कि भारतीय परंपरा के लेखकों पर अध्यात्म प्रभावी रहा है, जो अतिरेकी आस्था और विश्वास के दबाव में अंधानुकरण में ढल जाता है। जबकि 'सुकरात-प्लेटो-अरस्तु' के बीच ज्ञान की लालसा तथा शुभत्व की खोज के लिए एक-दूसरे पर संदेह का सिलसिला निरंतर बना रहता है। परंपरा-पोषी होने के कारण भारतीय लेखक एक-दूसरे को दोहराते अथवा परंपरा का पृष्ठ-प्रेषण करते हुए नजर आते हैं। पश्चिम का लेखन विशेषकर वह लेखन जो सुकरात से आरंभ होकर अरस्तु और आगे थामस हॉब्स, जान लॉक, रूसो, वाल्तेयर, बैंथम, हीगेल, मार्क्स आदि तक जाता है, उसमें संदेह का सिलसिला कभी टूटता नहीं है। वाल्तेयर और रूसो एक-दूसरे के समकालीन लेखक थे। जीते-जी उनमें हमेशा विलगाव बना रहा। दोनों एक-दूसरे के कट्टर आलोचक थे। परंतु वाल्तेयर और रूसो को पढ़ते हुए यह नहीं कहा जा सकता कि उनमें से किसी एक के मन में ज्ञान की ललक, मनुष्यता को बेहतर बनाए जाने की उत्कंठा दूसरे से कम है। जिस तरह प्लेटो सुकरात के प्रति और अरस्तु प्लेटो के प्रति अगाध प्रेम और विश्वास रखते हुए, विनम्र असहमति क साथ विचार-परंपरा को आगे बढ़ाते हैं, वैसा भारतीय परंपरा में दुर्लभ है। प्लेटो के विपुल वाङ्मय में एक भी शब्द, एक भी पंक्ति ऐसी नहीं है, जिसपर सुकरात का असर न हो। बावजूद इसके जहां आवश्यक समझा उसने सुकरात की बात भी काटी है। अरस्तु तो प्लेटो से भी आगे निकल जाता है। उसके मन में गुरु प्लेटो के प्रति गहरा सम्मान था। बावजूद इसके उसके ग्रंथों में प्लेटो के विचारों के प्रति सहमति से अधिक असहमति नजर आती है। इस तरह प्लेटो और अरस्तु दोनों अपने-अपने गुरु के ज्ञान को आत्मसात करते हैं, परंतु उनका विश्वास उस परंपरा को आगे बढ़ाने में है, न कि अनुसरण में। उसका विश्वास केवल मनुष्यता में है। प्लेटो भावुक, कवि हृदय है, जबकि अरस्तु अपेक्षाकृत वैज्ञानिक प्रवृत्ति से युक्त। इसलिए अरस्तु के लेखन में असहमति अधिक मुखर है। इस कारण कुछ विद्वान तो अरस्तु को प्लेटो का शिष्य मानने को ही तैयार नहीं है। लेकिन अरस्तु के लेखन में प्लेटो के प्रति जैसा सम्मान-भाव है उसे देखते हुए यह असंभव भी नहीं लगता। दूसरी ओर

पुराणों में कथ्य के आधार पर अंतर न के बराबर है। उनमें भयंकर दोहराव भी है। अधिकांश चरित्र मिथकीय हैं। ऐसा महसूस होगा मानो सारे पौराणिक ग्रंथ एक ही लेखक द्वारा रचित अलग-अलग कालखंड की कृतियां हैं, अथवा उनके लेखक मंजे हुए किस्सागो थे। उन्होंने समाज में पहले से प्रचलित कहानियों को अतिरेकपूर्ण कल्पनाओं और रोचकता के साथ पौराणिक कलेवर प्रदान किया था।

जीवन परिचय

अरस्तु(जन्म 384 ईस्वीपूर्व) और प्लेटो के जन्म के बीच लगभग चार दशक का अंतराल था। कहने की आवश्यकता नहीं कि अपने नामानुरूप अरस्तु ने जीवन में महान उद्देश्य सिद्ध किए। अरस्तु का मुख्य कर्मक्षेत्र एथेंस रहा, परंतु सुकरात और प्लेटो की भांति वह मूल एथेंसवासी नहीं था। उसका जन्म एथेंस से लगभग 340 किलोमीटर दूर, थ्रेस नदी के किनारे स्थित स्तेगिरा नामक छोटे से शहर में हुआ था। उसके पिता का नाम निकोमारक्स् था। उनके पूर्वज मैसेनिया से ईसापूर्व सातवीं-आठवीं शताब्दी में स्तेगिरा में आकर बसे थे। उसकी मां का नाम फैस्तिस था और उसके पूर्वज यूबोइया प्रदेश के खालिक्स नामक मामूली शहर के रहने वाले थे। मेसिडन के राजा एमींतस जिसकी प्रतिष्ठा सिंकदर का दादा होने के कारण भी है—का निजी चिकित्सक होने के कारण निकोमाराक्स् की समाज में प्रतिष्ठा थी। वे वैद्यों की पंचायत के सदस्य भी थे। उन दिनों यूनान के अनेक राज्यों में नगर-राज्य की व्यवस्था थी, जहां शासन प्रक्रिया में अधिकांश नागरिकों की भागीदारी रहती थी। मेडिसन में राजतंत्र था। और जैसा कि इस प्रकार की राज्य प्रणालियों में होता है, मेडिसन में भी वंशानुक्रम के आधार पर राजा की घोषणा की जाती थी। अरस्तु के बचपन के बारे में अधिक जानकारी नहीं है। यंत्र-तंत्र बिखरी सूचनाओं से पता चलता है कि उसकी प्राथमिक शिक्षा होमर की रचनाओं से आरंभ हुई थी। उसपर अपने चिकित्सक पिता का विशेष प्रभाव पड़ा। उन दिनों चिकित्सक परिवार के बच्चों को बचपन से ही शल्यदृचिकित्सा का प्रशिक्षण दिया जाता था। सो अरस्तु को भी शरीर विज्ञान और वनस्पतियों की शिक्षा बचपन से ही मिलने लगी थी। शरीर विज्ञान और प्रकृति-विज्ञान के दूसरे क्षेत्रों में अरस्तु की रुचि को देखते हुए उस समय शायद ही कोई कल्पना कर सकता था कि आगे चलकर यूनानी दर्शन और तर्कशास्त्र का महापंडित कहलाएगा। बचपन के वही अनुभव कालांतर में विज्ञान, विशेषकर वनस्पति शास्त्र के क्षेत्र में उसकी रुचि का कारण बने। यह भी बताया जाता है

कि बचपन के चिकित्सा क्षेत्र के अनुभवों के कारण ही अरस्तु को चिकित्सकों की स्थानीय संस्था का सदस्य बना लिया था।

अरस्तु का परिवार समृद्ध था। इसलिए बचपन में उसे सुख-सुविधाओं की कमी न थी। उसका बचपन राजपरिवार के लोगों के सान्निध्य में, सुखपूर्वक बीता। संयोगवश अरस्तु के मातादृपिता की मृत्यु उसकी किशोरावस्था में ही हो चुकी थी। उसके बाद उसकी देखभाल का दायित्व उसके एक रिश्तेदार प्रॉक्सीनस ने संभाला। सुकरात की भांति अरस्तु की आरंभिक इच्छा भी विज्ञान के क्षेत्र में सफलता प्राप्त करने की थी। उसने अपने जीवन का लंबा समय वैज्ञानिक अनुभवों के लिए लगाया था। अनेक ग्रंथों की रचना की, बाद में वह प्रकृति विज्ञान से उकताने लगा। इसका कारण स्टेगिरा की राजनीति थी। सम्राट एमींतस महत्त्वाकांक्षी था। राज्य की सीमाओं के विस्तार के लिए उसने कई युद्ध लड़े थे, जिसमें उसे सफलता भी मिली थी। लेकिन राज्य की सीमाओं का विस्तार और प्रजा के सुख-संतोष में विस्तार के बीच कोई तालमेल न था। लगातार युद्ध के मैदान में रहने वाले राजा की प्रजा को जो कष्ट भोगने पड़ते हैं, वे कष्ट स्तेगिरा की प्रजा को भी भोगने पड़ते थे। इसी विसंगति से अरस्तु के मन में राजनीति को समझने की ललक पैदा हुई। उसने अनुभव किया था कि राज्य के उद्देश्यों तथा उसके कार्यों के बीच कोई तालमेल नहीं है। युवावस्था तक पहुँचते-पहुँचते वह ज्ञान के परंपरागत संसाधनों से उकताने लगा था। उसका झुकाव दर्शन और राजनीति की ओर गया। उस समय पूरे यूनान में प्लेटो द्वारा स्थापित 'अकादेमी' की प्रतिष्ठा थी। अरस्तु की प्रतिभा और उच्च शिक्षा के प्रति लगन को देखते हुए प्रॉक्सीनस ने उसका दाखिला प्लेटो की अकादेमी में करा दिया। ईस्वी पूर्व 367 में वह एथेंस पहुँचकर प्लेटो की अकादमी का सदस्य बन गया। उस समय उसकी आयु मात्र 17 वर्ष थी। अकादमी में आने का उद्देश्य केवल राजनीति और दर्शन की शिक्षा के साथ-साथ विश्व के सबसे बड़े विश्वविद्यालय में रहकर अध्ययन करने की लालसा थी।

अरस्तु प्लेटो की अकादेमी में लगभग बीस वर्षों तक रहा। वहां रहते हुए उसने गणित, दर्शन, राजनीति आदि विषयों में ज्ञान प्राप्त किया। उसके बाद कुछ अर्से तक अकादेमी में अध्यापन कार्य भी किया। यहीं उसके और प्लेटो के बीच आत्मीयता का विस्तार हुआ। अरस्तु को पुस्तकें जमा करने का शौक था और अपने धन का बड़ा हिस्सा पुस्तकों और पांडुलिपियों को जुटाने पर करता था। प्लेटो ने उसके आवास को 'श्रेष्ठ अध्येता का घर' कहा था। कुछ लोग मजाक

में कहा करते थे कि ईश्वर ने अरस्तु के मस्तिष्क में गहरा गड्ढा बना दिया है, जिसमें वह पुस्तकों को सहेज कर रखता है। अकादेमी में रहते हुए अरस्तु पर प्लेटो की विद्वता का प्रभाव उत्तरोत्तर बढ़ता गया। प्लेटो की लेखन-शैली का अनुकरण करते हुए उसने अकादमी प्रवास के दौरान भौतिकी, जीवविज्ञान, वनस्पति विज्ञान, तर्कशास्त्र, तत्त्व-दर्शन आदि पर अनेक पुस्तकों की रचना की। जहां अरस्तु के मन में अपने गुरु के प्रति बेहद सम्मान था, वहीं प्लेटो भी अपने योग्यतम शिष्य की प्रतिभा का मुरीद था। वह उसे 'अकादेमी का मस्तिष्क' और 'सर्वश्रेष्ठ अध्ययनशील' विद्यार्थी मानता था। प्लेटो का निधन हुआ, उस समय अरस्तु की उम्र लगभग 37 वर्ष थी। वह प्लेटो के उत्तराधिकारियों में से एक था। प्रतिभा को देखते हुए अरस्तु की दावेदारी भी बनती थी। वह प्लेटो का वास्तविक उत्तराधिकारी है, यह उसने आगे चलकर सिद्ध भी कर दिया था। परंतु 'अकादमी' का अध्यक्ष प्लेटो के रिश्तेदार तथा गणित एवं जीवविज्ञान के पंडित स्पूसिपस को बनाया गया। इसका कारण प्लेटो से अरस्तु की वैचारिक असहमतियां भी थीं। अधिकारियों में इतना साहस न था कि अकादेमी का संचालन का दायित्व ऐसे व्यक्ति के हाथों में सौंप दें, जिसकी अकादेमी के संस्थापक और गुरु से घोर असहमतियां रही हों, हालांकि अरस्तु की प्रतिभा को लेकर उन्हें कोई संदेह न था। नतीजा यह हुआ कि अरस्तु का जी अकादेमी से उचट गया। निराश होकर उसने एथेंस छोड़ दिया। वहां से वह माइसिया में एटारनियस नामक स्थान पर पहुँचा। वहां उसे अकादेमी के पूर्व छात्रों की मंडली का सदस्य चुन लिया गया। मंडली में एटारनियस का शासक हरमियॉस भी शामिल था। इससे अरस्तु को पुनः राजपरिवार के निकट आने का अवसर मिला। कुछ ही दिनों में हरमियॉस और अरस्तु गहरे दोस्त बन गए। इसका सुखद परिणाम अरस्तु और हरमियॉस की भतीजी (कुछ विद्वानों के अनुसार भानजी) पिथियास के विवाह के रूप में सामने आया। उसके फलस्वरूप उसके जीवन में स्थायित्व आया। अकादमी में प्राप्त गणित और विज्ञान की शिक्षा बहुत कारगर सिद्ध हुई। पिथियास से विवाह के उपरांत अरस्तु ने खुद को प्रकृति विज्ञान की खोज में लगा दिया। समुद्र तटीय स्थानों पर जाकर वह वनस्पतियों और जीव-जंतुओं का अध्ययन करने लगा। उन अनुभवों के आधार पर उसने आगे चलकर कई पुस्तकों की रचना की। एथेंस छोड़ने के बाद 12 वर्षों तक वह इसी तरह अनुभव और ज्ञान बंटोरता रहा। इस बीच राजतंत्र की निरंकुशता को करीब से देखने का अवसर मिला। कदाचित इसी बीच उसके मन में छोटे-छोटे राज्यों की विकृतियां

सामने आने लगी थीं। वही अनुभव कालांतर में आगे चलकर 'पॉलिटिक्स' एवं 'एथिक्स' जैसे ग्रन्थों की प्रेरणा बनीं। अपने उत्तरवर्ती जीवन में अरस्तु ने एक अन्य युवती हरपिलिस से विवाह किया, जिससे उसे संतान हुई। पुत्र का नाम उसने अपने पिता के नाम पर निकोमाराक्स् रखा।

342 ईस्वीपूर्व के आसपास उसको मेसिडन के सम्राट की ओर से निमंत्रण प्राप्त हुआ। इस अवधि में वहां काफी कुछ बदल चुका था। एमींतस के बाद फिलिप मेसिडन का सम्राट था। उसे अपने बेटे सिकंदर के लिए योग्य शिक्षक की तलाश थी। अरस्तु की प्रतिभा के बारे में वह पहले से ही परिचित था। अकादेमी में अरस्तु द्वारा किए गए कार्य भी उसकी जानकारी में थे। ऐसे में सिकंदर की शिक्षा के लिए अरस्तु से बेहतर कोई हो ही नहीं सकता था। निमंत्रण मिलते ही अरस्तु मेसिडन लौट आया। सम्राट फिलिप की ओर से उसका जोरदार स्वागत किया गया। आते ही उसे 'रॉयल अकादेमी ऑफ मेसिडन' का अध्यक्ष बना दिया गया। अगले तीन वर्षों तक वह इसी पद पर बना रहा। शिक्षक के तौर पर उसने राजकुमार सिकंदर में साम्राज्यवादी महत्त्वाकांक्षाएं जगाने का काम किया। उसने सिंकदर को राज्य की सीमाओं के विस्तार के लिए एशिया-माइनर तथा अन्य उत्तर-पूर्वी राज्यों पर अधिकार करने की सलाह दी। इस बीच एटारनियस से दुखद समाचार आया कि एक ईरानी सेनापति ने उसके मित्र और वहां के शासक हरमियॉस को धोखे से पकड़कर उसकी हत्या कर दी है। इस सूचना ने अरस्तु को व्यथित कर दिया। 340 ईस्वी पूर्व में फिलिप की मृत्यु के बाद सिकंदर सम्राट बना। सिंकदर के मन में शुरू से ही साम्राज्यवादी भावनाएं जोर मारती थीं। सत्ता हाथ में आते ही वह युद्ध पर निकल पड़ा। अब मेसिडन में अरस्तु को कोई काम न था। इसी बीच उसे एथेंस जाने का अवसर मिला। उसी समय अकादेमी अध्यक्ष पद के रिक्त होने की सूचना मिली। अरस्तु के मन में अकादेमी से जुड़ने की लालसा अब भी शेष थी। परंतु अरस्तु की उपेक्षा करते हुए अकादेमी के अधिकारियों द्वारा खेनोक्रातेस को अकादेमी का मुख्यदृअधिष्ठाता मनोनीत किया गया। अरस्तु एक बार फिर निराश हो गया। परंतु उसके जैसे मननशील व्यक्ति के आगे निराशा बहुत टिकाऊ नहीं थी। उसने स्वयं को अध्ययन के प्रति समर्पित कर दिया।

335 ईस्वी पूर्व में उसे पुनः एथेंस लौटने का अवसर मिला। इस बार आमंत्रित करने वाला था, हर्मेडयस उस समय अरस्तु की उम्र 51 वर्ष थी और एक विद्वान दार्शनिक के रूप में उसकी ख्याति आसपास के देशों में फैल चुकी

थी। एथेंस की ज्ञानदृविज्ञान के क्षेत्र में धाक थी। अवसर गंवाए बिना अरस्तु एथेंस के लिए प्रस्थान कर गया। उन दिनों एथेंस और मेसीडन के संबंध अच्छे न थे। परंतु अरस्तु की विद्वता की धाक ऐसी थी कि एथेंस में उसका स्वागत हुआ। जाहिर है इसके पीछे एथेंसवासियों की ज्ञान के प्रति सम्मान-भावना का असर था। एथेंस के उत्तर-पूर्व स्थित उपनगर अपोलो में लीशियस देवी का मंदिर था। एथेंस के कानून के अनुसार वहां बाहरी व्यक्तियों को भूमि खरीदने की अनुमति नहीं थी। इसलिए अरस्तु ने मंदिर के आसपास के क्षेत्रों में कुछ मकान किराये पर लेकर अपने विश्व-विद्यालय की स्थापना की। विश्वविद्यालय का नाम लीशियस देवी के नाम के आधार पर 'लीशियम' रखा गया। कुछ ही दिनों में एथेंस के अनेक प्रतिष्ठित लोग जिनमें अकादेमी से शिक्षित लोग भी थे, अरस्तु से जुड़ने लगे। इससे अरस्तु और उसके विश्वविद्यालय की प्रतिष्ठा बढ़ने लगी। उस विश्वविद्यालय की खूबी थी कि वहां टहलते हुए शिक्षार्जन पर जोर दिया जाता था। अरस्तु स्वयं टहलते हुए पढ़ाता था। इसलिए कुछ प्लेटो को 'टहलते-टहलते पढ़ाने वाला अध्यापक' तथा संस्था को 'परिभ्रामी विद्यालय' भी कहने लगे थे। लीशियम में रहते हुए अरस्तु ने अध्यापन के अलावा कई महत्त्वपूर्ण काम किए।

पुस्तक संग्रह का शौक उसको अकादेमी प्रवास से ही था। लीशियम में उसे पुस्तकें जमा करने के भरपूर अवसर मिला। फलस्वरूप उसने सैकड़ों पुस्तकों एवं पांडुलियों का संग्रह किया। और उन्हें सुरक्षित रखने लिए लीशियम के भीतर एक विशाल पुस्तकालय का निर्माण किया। अरस्तु द्वारा निर्मित पुस्तकालय उसके समकालीन नाटककार यूरीपिडिस के पुस्तकालय को छोड़कर, पूरे यूनान में सबसे बड़ा था। यही नहीं उसने पुस्तकों को व्यवस्थित करने के लिए आवश्यक नियम भी बनाए थे। पुस्तकालय के अलावा उसने विश्वविद्यालय में विचित्र वस्तुओं, शैवालों तथा मानचित्रों का एक अजायबघर तैयार किया। हालांकि स्वयं अरस्तु के पास धन की कमी न थी। उसकी पत्नी धनाड्य परिवार से थी। इसके साथ-साथ पुस्तकालय, अजायबघर, वैज्ञानिक उपकरण आदि के लिए सिंकदर की ओर से भी समय-समय पर मदद प्राप्त होती रहती थी। गुरु अरस्तु के प्रति सिंकदर का सम्मान इससे भी जाहिर होता है कि उसने अपने सैनिकों, मछुआरों, बहेलियों और शिकारियों को आदेश दिया था कि काम के दौरान यदि कोई विचित्र वस्तु मिले तो उसे संग्रहित कर, लीशियम के संग्रहालय में जमा करा दें। इसके

अतिरिक्त सिंकदर ने जीव विज्ञान एवं भौतिक विज्ञान संबंधी खोजों के वैज्ञानिक उपकरण भेजकर भी अरस्तु की मदद की थी।

अरस्तु 'लीशियम' में 12 वर्षों तक रहा। इस बीच उसका विद्यालय निरंतर प्रगति करता रहा। लगभग सभी विषय की शिक्षाओं का वहां प्रबंध था और शिक्षार्थी के रूप में दूर-दूर के विद्यार्थी वहां पहुँचते थे। 'लीशियम' के प्रशासन हेतु अरस्तु ने विशेष प्रबंध किए थे। उस व्यवस्था को प्लेटो के 'आदर्श राज्य' तो नहीं कह सकते, परंतु शिक्षक और विद्यार्थी के बीच अनौपचारिक बातचीत को बढ़ाने, शिक्षा में सहजता लाने की भावनाएं उसके पीछे अवश्य थीं। तदनुसार विद्यार्थी अपने बीच से एक विद्यार्थी को चुनते थे। अगले दस दिनों तक वही विश्वविद्यालय के प्रशासक का काम करता था। इसके बावजूद 'लीशियम' में पर्याप्त अनुशासन था। भोजन-व्यवस्था वहां सामूहिक थी। महीने में एक दिन विशेष परिचर्चा के लिए सुरक्षित था, जिसके नियम अरस्तु ने निर्धारित किए थे। अरस्तु का यह विश्वविद्यालय प्लेटो द्वारा स्थापित विश्वविद्यालय 'अकादेमी' जैसी प्रतिष्ठा प्राप्त नहीं कर सका। एक तरह से यह उसकी शाखा जैसा ही था। दोनों में एक विशेष अंतर भी था। 'अकादेमी' में गणित पर ज्यादा जोर दिया जाता था, जबकि 'लीशियम' में जीवविज्ञान और वनस्पति विज्ञान की शिक्षा पर खास ध्यान दिया जाता था। प्रायोगिक शिक्षा का खास महत्त्व था। उन दिनों बाढ़ आम समस्या थी। बरसात के समय नील नदी उफनने लगती। अरस्तु ने नियमित आने वाली बाढ़ों की रोकथाम के लिए भी शोधकार्य किया था। 'लीशियम' को प्लेटो के 'अकादेमी' जैसी प्रतिष्ठा भले ही प्राप्त न कर सका, परंतु एक दार्शनिक के रूप में अरस्तु को वैसी प्रतिष्ठा प्राप्त हो चुकी थी, जैसी कभी सुकरात और प्लेटो को प्राप्त थी। अरस्तु को नकारकर जिस व्यक्ति को अकादेमी का अध्यक्ष मनोनीत किया गया था, अरस्तु के प्रभामंडल के आगे उसकी प्रतिष्ठा नगण्य थी।

लीशियम में अध्यापन करते हुए अरस्तु ने अनेक महत्त्वपूर्ण ग्रंथों की रचना की। उस समय सिकंदर विश्व-विजय के लिए निकला हुआ था। यात्रा के विवरणों को दर्ज करने के लिए सिंकदर के साथ कल्लिस्थेसनस् नामक युवा भी उसके साथ अभियान पर था। वह अरस्तु का शिष्य था और अपने गुरु की भांति स्पष्टवक्ता भी। अभियान के दौरान किसी कार्य के लिए कल्लिस्थेसनस् ने सिंकदर की आलोचना कर दी। परिणामस्वरूप सिंकदर उससे रुष्ट हो गया। उस समय तक सिंकदर की विश्व-विजय की कामनाएं उभार पर थीं। आलोचना उससे सहन न हुई। उसके आदेश पर कल्लिस्थेसनस् को मृत्युदंड सुनाया गया।

कल्लिस्थेसनस अरस्तु का करीबी शिष्य था। अरस्तु ने ही उसे सिकंदर के साथ भेजा था, इसलिए कल्लिस्थेसनस् के साथ-साथ अरस्तु को भी दोषी माना गया। पता चलता है कि भारत से वापसी के बाद सिंकदर ने भी अरस्तु को दंडित करने का निर्णय कर लिया था। लेकिन भारत अभियान में वह इतनी बुरी तरह से उलझा कि वापस लौट ही नहीं पाया। ईसा पूर्व 323वें वर्ष में उसकी मृत्यु हो गई। सिकंदर की मौत का समाचार जैसे ही मेसिडन पहुँचा वहां विद्रोह हो गया। अरस्तु सिंकदर का गुरु और करीबी रह चुका था, इसलिए विद्रोहियों ने उसे भी दंडित करने का निर्णय किया। लेकिन अरस्तु को दंडित करना आसान न था। उसकी पूरे यूनान में प्रतिष्ठा थी। विद्रोहियों ने उसे 'नास्तिक' घोषित कर दिया। आरोप का आधार अरस्तु द्वारा ईसापूर्व 340-341 में अपने दोस्त हरमियॉस पर लिखी कविता को बनाया गया। वह कविता अरस्तु ने हरमियॉस की हत्या के बाद लिखी थी, जिसमें उसके गुणों का बखान करते हुए उसे देवतुल्य घोषित किया गया था। बीस वर्ष पुरानी उस कविता के समय और परिस्थिति को देखते हुए इस प्रकार के आरोप बेमानी थे। विरोधी किसी भी प्रकार अरस्तु को दंडित करना चाहते थे, इसलिए अरस्तु को नास्तिक घोषित करना, जनता के बीच उसकी छवि को धूमिल करने की चाल थी। अपने विरुद्ध बढ़ता माहौल देख अरस्तु को एथेंस छोड़ना पड़ा। उसी वर्ष 62 वर्ष की अवस्था में उसकी मृत्यु हो गई।

एथेंस छोड़ते समय उसने घोषणा की थी कि एथेंसवासियों को दर्शनशास्त्र के विरुद्ध दूसरी बार अपराध नहीं करने देगा। दर्शनशास्त्र के विरुद्ध एथेंसवासियों का पहला अपराध उसकी संसद द्वारा सुकरात को दिया गया मृत्युदंड था। एथेंस से वह युबोइया के लिए प्रस्थान कर गया। वहां खॉल्किस नामक छोटे से नगर में जाकर रहने लगा। वहीं रहते हुए उसने अपनी वसीयत तैयार की, जिसमें उसने अपनी पत्नी हर्पीलियस के स्वभाव की प्रशंसा करते हुए उसके लिए धन की व्यवस्था की थी। पहली पत्नी पिथियास की यादें अब भी उसके दिल में बसी थीं। इसलिए उसने वसीयत में लिखा कि उसे पिथियास के अवशेषों के साथ दफनाया जाए। अपनी संपत्ति का कुछ हिस्सा दासों के नाम किया था और कुछ को उसने दासत्व से मुक्त कर, स्वतंत्र कर दिया था। ये घटनाएं उसकी संवेदनशीलता को दर्शाती हैं। कवि-हृदय प्लेटो ने भी पाया था, परंतु उसे कविता से अरुचि थी। मानता था कि कविता और नाटक जैसी विधाएं मनुष्य को यथार्थ से परे ले जाकर कमजोर बनाती हैं। अरस्तु मनो-मस्तिष्क से वैज्ञानिक होने के

साथ-साथ संवेदनशील कवि भी था। एक कविता में उसने प्लेटो की विलक्षण मेधा की प्रशंसा करते हुए उसे विद्वानों के बीच अद्वितीय घोषित किया है। देहयष्टि को लेकर भी अरस्तु और प्लेटो के बीच उल्लेखनीय अंतर था। प्लेटो लंबे-चौड़े डील-डोल, चौड़ी छाती और सुदर्शन चेहरे वाला व्यक्ति था। उसके नामकरण का कारण ही उसका लंबा-चौड़ा डील-डौल था। दूसरी ओर अरस्तु की आंखें छोटी-छोटी। पैर पतले। कद-काठी सामान्य थी। बोलते समय वह कभी-कभी तुतलाने लगता था। यह भी कहा गया है कि उम्र के आखिरी पड़ाव पर उसके बाल झड़ चुके थे। रहनदृसहन और बोलचाल में वह असंयमी था। अरस्तु की वाक्पटुता की प्रशंसा की जाती है। दियोगेनस ने उसकी वाक्पटुता के उदाहरणों को पुस्तकाकार संग्रहित किया है। मगर उसकी प्रतिभा बेमिसाल थी। वह अपने समय के शीर्षतम दार्शनिकों और कुछ मामलों में तो अपने गुरु प्लेटो से भी आगे था। दांते ने उसे 'सभी विद्वानों का गुरु' घोषित किया है। अरस्तु ने विपुल साहित्य की रचना की। उसके ग्रंथों की संख्या लगभग चार सौ बताई जाती है। उनमें से अनेक ग्रंथ तो दर्शनदृशास्त्र और राजनीति की धरोहर हैं। लेकिन यह भी विडंबना है कि अरस्तु जैसे महामेधावी दार्शनिक की पुस्तकें भी उसके निधन के लगभग 250 वर्ष बाद ही सिसरो के प्रयासों के फलस्वरूप प्रकाशित हो सकीं। इस बीच उसकी अनेक पांडुलिपियां लुप्त हो चुकी थीं। अब सिवाय संदर्भों के उनका कहीं अतादृपता नहीं है। लेकिन 'पॉलिटिक्स' और 'एथिक्स' जैसे ग्रंथ मानवता के उपहार के रूप में आज भी सुरक्षित हैं।

वस्तुत: राजनीतिक आदर्श के रूप में अरस्तु राज्य के जिस स्वरूप की कल्पना करता है, उसमें और प्लेटो के दर्शन में विशेष अंतर नहीं है। 'आदर्श राज्य' के रूप में प्लेटो जो कल्पना करता है, अरस्तु उसी सपने को 'राज्य के आदर्श' के रूप में साकार करना चाहता है। इस तरह हम अरस्तु के विचारों पर प्लेटो के दर्शन की छाया देख सकते हैं। बावजूद इसके अरस्तु के विचारों को प्लेटो के दर्शन की पुनरावृत्ति नहीं कहा जा सकता। 'राज्य के आदर्श' को परिपक्व दर्शन के रूप में विस्तार देने से पहले वह प्लेटो के 'आदर्श राज्य' से उतनी ही प्रेरणा लेता है, जितनी आवश्यक है। 'लॉज' में प्लेटो का यह विचार कि न्याय सभ्यताकरण की कसौटी है तथा न्याय से ही मानव ने सभ्यता का पाठ पढ़ा है—अरस्तु के दर्शन के लिए प्रस्थान बिंदू का काम करता है।

न्याय की व्याख्या करते हुए अरस्तु उसके दोनों रूपों पर विचार करता है। पहला वह जिसके बारे में सामान्यजन सोचता है कि न्याय कानून के तत्त्वावधान

में अदालतों के जरिये प्राप्त होता है। इसके साथ-साथ वह मनुष्य के आचरण एवं व्यवहार की व्याख्या करता है। न्याय का यह रूप नागरिक और राष्ट्र-राज्य के कानून के अंतर्संबंध को दर्शाता है। उन अनुबंधों की ओर इशारा करता है, जिनसे कोई नागरिक सभ्य समाज का नागरिक होने के नाते जन्म के साथ ही जुड़ जाता है। प्रकारांतर में वह बताता हे कि आदर्शोन्मुखी समाज में मनुष्य का आचरण एवं कर्तव्य किस प्रकार के होने चाहिए, ताकि समाज में शांति, सुशासन और आदर्शोन्मुखता बनी रहे। प्रायः सभी समाजों में कानून को नकारात्मक ढंग से लिया जाता है। बात-बात पर कानून का हवाला देने वालीं, उसके अनुपालन में लगी शक्तियां प्रायः यह मान लेती हैं कि बुराई मानव-स्वभाव का स्थायी लक्षण है। जो बुरा है, उसे केवल दंड के माध्यम से बस में रखा जा सकता है। कि मानव-व्यक्तित्त्व पर आज भी अपने उन पूर्वजों के लक्षण शेष हैं जो कभी जंगलों में जानवरों के बीच रहा करते थे। कुछ व्यक्तियों में पाशविक वृत्ति ज्यादा प्रभावी होती है। ऐसे लोगों पर बल-प्रयोग उन्हें अनुशासित रखने का एकमात्र उपाय है, इसलिए सभ्यताकरण के आरंभ से ही दंड-विधान की व्यवस्था प्रत्येक समाज और संस्कृति में रही है। इसे पुष्ट करने के लिए धर्म और संस्कृति से जुड़े ऐसे अनेक किस्से हैं, जिनसे हमारा संस्कार बनता है। स्वर्ग-नरक की कल्पना भी इसी का हिस्सा है। उनमें से अधिकांश पर विजेता संस्कृति का प्रभाव है। आधुनिक संदर्भों में वह चाहे जितना लोकतंत्र और मानव-स्वांतत्रय का विरोधी हो, प्राचीन इतिहास, धर्म और संस्कृति का हिस्सा होने के कारण उसे धरोहर के रूप में सहेजा जाता है।

प्राचीनकाल में जब अदालतें नहीं थीं, तब न्याय करने की जिम्मेदारी बस्ती के मुखिया या समूह के वरिष्ठ सदस्य जिसकी निष्पक्षता असंद्धिग्ध होती थी। इस्लामी शासन के दौरान यह जिम्मेदारी काजी के कंधों पर आ पड़ी। राजशाही में राजा को सर्वेसर्वा माना जाता था। दरबार में आए मामलों की सुनवाई के लिए न्यायाधिकारी और दंडाधिकारी दोनों की जिम्मेदारियां वही संभालता था। दंड-विधान का आधार परंपरागत अथवा लिखित-अलिखित विधि-संहिताओं को बनाया जाता था। किसी न किसी रूप में वे सभी धार्मिक उपादानों द्वारा शासित-अनुशासित होती थीं। उसका लाभ धार्मिक कार्य-कलापों में लिप्त 'धंधेबाज' उठाते थे। उदाहरण के लिए भारत में एक जैसे अपराध के लिए ब्राह्मणों तथा शूद्रों के लिए अलग-अलग दंड-विधान था। ब्राह्मणों को मृत्युदंड निषिद्ध था, जबकि ब्राह्मणेत्तर वर्गों के लिए इस तरह की कोई पाबंदी न थी।

चूंकि दिए गए दंड के विरुद्ध अपील के बहुत कम अवसर थे, इसलिए जनसाधारण मजबूरी में दैवीय न्याय की उम्मीद करने लगता था। आज भी ऐसे लोग कम नहीं हैं। उनका मानना है कि एकमात्र ईश्वर सच्चा न्यायकर्ता है। जिन्हें अपराधी होने के बावजूद इस जन्म में दंड नहीं मिला, वे ईश्वर के दरबार में अवश्य ही दंडित किए जाएंगे–इस विश्वास के साथ साधारणजन बड़े से बड़े अनाचार को पचाते चले जाते थे। आधुनिक समाजों में न्याय की जिम्मेदारी अदालतों पर होती है। उनका आचरण संवैधानिक मर्यादाओं से आबद्ध रहता है। इसलिए यह व्यवस्था न्याय के अपेक्षाकृत अनुकूल है। इसके अनुसार राज्य अपने नागरिकों से अपेक्षा करता है कि वे कानून सम्मत व्यवहार करें, ताकि राज्य को उनके जीवन में हस्तक्षेप की आवश्यकता ही न पड़े। जो व्यक्ति अपने आचरण द्वारा दूसरे व्यक्ति के जीवन में अमर्यादित हस्तक्षेप करता है, वह राज्य को अपने जीवन में हस्तक्षेप करने का अधिकार दे देता है। दूसरों के जीवन में अवांछित और अमर्यादित हस्तक्षेप को राज्य अपराध मानता है। दूसरों के जीवन में अवांछित हस्तक्षेप करने वाला व्यक्ति अपनी निजता का अधिकार भी गंवा देता है। तदनुसार राज्य को समाज द्वारा प्राप्त शक्तियों के बल पर उस व्यक्ति के जीवन में हस्तक्षेप करने का अधिकार स्वत: हासिल हो जाता है। चूंकि राज्य पर समाज में शांति और अनुशासन बनाए रखने की जिम्मेदारी भी होती है, इसलिए वह अपराधी के विरुद्ध दंडनीति के तयशुदा प्रावधानों के अनुसार कार्रवाही करता है। न्याय का यह लोक-प्रचलित रूप व्यक्ति के कर्तव्य पालन से जुड़ा है, जिसमें विचलन होते ही दंडनीति प्रभावी हो जाती है। प्राय: इसे सभ्यताकरण की अनिवार्यता के रूप में अपनाया जाता है। जनसाधारण न्याय के इसी रूप से सर्वाधिक प्रभावित होता है।

न्याय का दूसरा रूप कानून और अदालतों से प्राप्त होने वाले न्याय से अलग है। पहला जहां राज्य के अधिकारदृपक्ष के निकट है, दूसरा उसके कर्तव्य पक्ष की महत्ता एवं कार्यक्षेत्र को व्यापकता दर्शाता है। सिसरो के अनुसार राज्य जनता का सर्वाधिकार है। चूंकि राज्य का गठन लोगों द्वारा सामान्य हितों की पूर्ति हेतु किया जाता है, अतएव उसका वही कृत्य न्यायपूर्ण कहा जाएगा, जो उसके द्वारा संपूर्ण विवेक, निष्पक्षता, समानता और सर्वजन के विकास की चाहत के साथ उठाया जाता है। वह राज्य की नैतिकता तथा उसके गठन के औचित्य को दर्शाता है। अरस्तु इसे और भी स्पष्ट कर देता है। उसके अनुसार अन्याय केवल दूसरों के जीवन में अवांछित हस्तक्षेप, उसका प्रताड़नय अथवा मान्य कानूनों का

उल्लंघन करने तक सीमित नहीं है। बल्कि दूसरों के अधिकारों का हनन करना, उन्हें उनके अधिकारों से वंचित कर देना, जो नागरिकों के प्रति राज्य का कर्तव्य भी हैं–अन्याय की सीमा में आता है। आखिर मनुष्य के अधिकारों की पहचान कैसे हो? इस बात में कैसे अंतर किया जाए कि जो अधिकार किसी एक व्यक्ति का है, वह दूसरे का भी है अथवा नहीं है? तथा उनके आकलन की कसौटी क्या है?

सवाल और भी हैं। जब हम कहते हैं कि भरपेट भोजन प्राप्त करना मनुष्य का अधिकार है? सभ्य समाज में शिक्षा और स्वास्थ्य जैसी सुविधाएं प्रत्येक व्यक्ति को आसानी से प्राप्त होनी चाहिए, तो इस तर्क का आधार क्या होता है? क्यों न मान लिया जाए कि जो व्यक्ति जीवन में अतिरिक्त रूप से सफल होते हैं, उसके पीछे उनकी अपनी मेहनत और प्रतिभा का भी कमाल होता है। लोकहित में आवश्यक है कि समाज के सभी सदस्य एक-दूसरे के हितों का ध्यान रखें। लेकिन यह भी जरूरी है कि योग्य व्यक्ति को उसकी योग्यता का लाभ खुद भी प्राप्त हो। परंतु इतने-भर से समस्या का समाधान नहीं हो जाता। मान लीजिए, दो मजूदर किसी कारखाने में काम करते हैं। उनमें एक की क्षमता दस नग प्रतिदिन तैयार करने की है। दूसरा उतने ही समय में बीस नग बना देता है। तो जो कारीगर बीस नग प्रतिदिन बनाता है, उसके उत्पादन क्षमता का लाभ दस नग प्रतिदिन बनाने वाले के साथ बांट देना क्या उसके प्रति अन्याय नहीं होगा? यदि किसी व्यक्ति को लगे कि उसके उत्पादन का लाभ उसे नहीं मिल रहा है, तो क्या वह अपनी पूर्ण क्षमता के साथ लगातार काम कर पाएगा? अपने लाभ को दूसरों में बंटते देख क्या वह हतोत्साहित नहीं होगा? चलताऊ ढंग से सोचें तो बात एकदम सच जान पड़ेगी। पूंजीवादी अर्थतंत्र कहता है, श्रमिक को उसके श्रम का पूरा लाभ मिले। दावा करता है कि केवल वही है जो श्रमिक को उसके श्रम का पूरा लाभ दिला सकता है। लाभ का आकलन केवल भौतिक मुद्रा के आधार पर करने वाले पूंजीवाद की निगाह में यही न्याय है। ऐसे ही तर्क देकर वह श्रमिकों को बांटे रखता है। वहां इसे स्पर्धा का नाम दिया जाता है। परिणाम यह होता है कि जो मजदूर बीस नग प्रतिदिन बनाता है, वह निरंतर आगे निकलता जाता है। जबकि दस नग बनाने वाला कारीगर स्पर्धा में पिछड़ता चला जाता है। वृहद संदर्भों में यह स्पर्धा दो कारखानों के बीच भी देखी जा सकती है। चूंकि समाज में विशिष्ट लोगों की संख्या बहुत कम होती है, अधिकांश दस नग प्रतिदिन बनाने वाले कामगार जितने ही कार्यक्षम होते हैं। इसलिए अपने

उत्पाद का सारा लाभ खुद रखने वाला कामगार स्पर्धा में निरंतर आगे निकलता चला जाता है। इससे समाज में आर्थिक विभाजन बढ़ता चला जाता है। इसका समाधान क्या है? अरस्तु इतना उदार नहीं है कि वह बीस नग बनाने वाले के श्रमदृलाभों वाले कामगार के लाभ को दस नग प्रतिदिन बनाने वाले श्रमिकों के बीच बांटने पर सहमत हो जाए। इस असमानता को वह प्राकृतिक मानता है। अरस्तु के समय में मौद्रिक लाभ की अवधारणा इतनी पुष्ट नहीं थी, जैसी वह आज है। इसलिए उसका समाधान भी आज के संदर्भों में ही खोजना पड़ेगा।

ऊपर के उदाहरण में मान लिया गया है कि बीस नग प्रतिदिन बनाने वाले कारीगर की उत्पादन क्षमता केवल उसकी अपनी उपलब्धि है। यहां व्यक्ति के कौशल-निर्माण में उसके परिवेश के प्रभाव जो एक तरह से उसका योगदान ही है, बिसरा दिया गया है। मनुष्य और उसके समाज के बीच का संबंध आपसी लेन-देन का होता है। जो समाज को अधिक लौटाते हैं, या जिनसे समाज को अधिकाधिक लौटाने की अपेक्षा की जाती है, वे प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप में समाज से अधिक ग्रहण भी करते हैं। यदि किसी विद्वान की बात करें तो पहले वह पीढ़ियों से अर्जित ज्ञान का अध्ययन-मनन करता है, तदनंतर अपने विचारों को सामने लाता है। इस तरह से वह अपने पूर्ववर्ती विद्वानों का कर्जदार होता है। अतएव जो व्यक्ति समाज से जितना अधिक ग्रहण करता है, समाज को उसी अनुपात में वापस लौटाना उसका कर्तव्य भी है। इसमें मौद्रिक लेन-देन आवश्यक नहीं है। इसलिए इसका समाधान भी अकेले मौद्रिक लेन-देन द्वारा संभव नहीं है। उचित यही है कि मौद्रिक लाभ के स्थान पर सामाजिक लाभ की अवधारणा को स्थापित किया जाए। शांति और खुशहाली के लिए आवश्यक है कि समाज में आर्थिक विभाजन न्यूनतम हो। कुशल कामगार को यह समझाया जाए कि उसकी उपलब्धियां केवल उस अकेले की नहीं हैं। उनमें उसके परिवेश जिसमें उसके मित्र, संबंधी, पड़ोसी यहां तक कि दुश्मन भी सम्मिलित हैं, सभी का साझा है। इसी तरह धनपति को मालूम होना चाहिए कि उसके लाभ पर सिर्फ उसका अधिकार नहीं है, उन श्रमिकों और कारीगरों का भी योगदान है, जो रात-दिन मेहनत करने अपने मालिक की समृद्धि को संभव बनाते हैं। अरस्तु राज्य से अपेक्षा रखता है कि दस नग बनाने वाले को निरंतर प्रोत्साहित करता रहे। और बीस नग प्रतिदिन बनाने वाले कामगार को इस बात के लिए राजी करे कि वह मौद्रिक लाभों के बजाए सामाजिक लाभों पर भी ध्यान दे, ताकि दो भिन्न उत्पादनदृक्षमता वाले कामगारों के बीच अधिकतम समानता संभव हो सके।

समाजीकरण मनुष्य की सहज प्रवृत्ति है। यदि केवल किसी एक व्यक्ति के सुख-दुख, गुण-दोष का मामला हो तो समाजीकरण की आवश्यकता ही न पड़े। समाज न तो विशिष्ट व्यक्ति की चयन है, न ही व्यक्तियों की विशिष्ट पसंद। मनुष्यों की सामूहिक सृष्टि है। उसका सृजन सामूहिक रूप से सर्वकल्याण के उद्देश्य से किया जाता है। समाज की जरूरत उस व्यक्ति को भी पड़ती है, जिसकी आवश्यकता व्यक्ति के अस्तित्त्व से जुड़ी है। इसकी इच्छा वह व्यक्ति भी करता है, जो अतिरिक्त रूप से गुणी और संपन्न है। इसके कारणों में मामूली अंतर हो सकते हैं। जो व्यक्ति जीवन में अतिरिक्त रूप से कामयाब होते हैं, वे अपनी सफलता से दूसरों को प्रभावित करना चाहते हैं। प्रजा न हो तो राजा का होना अर्थहीन हो जाए। इसी तरह अमीर को अपनी अमीरी का प्रदर्शन करने के लिए गरीब की जरूरत पड़ती है। कह सकते हैं कि मनुष्य की किसी भी उपलब्धि का महत्त्व दूसरों के साथ, उन सबके सापेक्ष है। असफलता सफलता की पहली और निर्णायक कसौटी है। असफल व्यक्ति जितने अधिक संख्या में होंगे, सफलता का मूल्य उतना ही अधिक आंका जाएगा। यही प्रवृत्ति न्याय की जरूरत पर बल देती है।

ऊपर संकेत किया गया है कि किसी व्यक्ति की सफलता केवल उसके गुणों पर निर्भर नहीं करती। इस बात पर भी निर्भर करती है कि उस व्यक्ति को जीवन में कामयाबी दर्ज कराने के लिए कितने अवसर और संसाधन प्राप्त थे। तुलना यदि प्राकृतिक स्तर पर हो तो सफल और असफल व्यक्तियों में बहुत अंतर नहीं होता। युद्ध में किसी राजा की जीत केवल इसपर निर्भर नहीं करती कि वह स्वयं कितना बहादुर है, बल्कि उसकी ओर से लड़ रहे सैनिकों की संख्या तथा राजा के प्रति उनकी निष्ठा पर भी निर्भर करती है। इसलिए अपनी सत्ता की सुरक्षा और स्थायित्व के लिए शासक वर्ग स्वामीभक्ति को महिमा-मंडित करता रहता है। युद्ध में सैनिक और उनके अस्त्र-शस्त्र राजा के लिए संसाधन होते हैं। वे राजा को केवल उसकी निजी योग्यता के आधार पर प्राप्त नहीं होते। उनमें से अधिकांश उत्तराधिकार में प्राप्त होते हैं। यदि राजा केवल अपने दम पर, आमने-सामने की लड़ाई करे तो उसकी सफलता की संभावना बहुत सीमित स्तर की होगी। कारखानेदार के मामले में सैनिकों का स्थान पूंजी ले लेती है। संभव है उसमें से पूंजी का बड़ा हिस्सा उत्तराधिकार के रूप में प्राप्त हुआ हो। यदि यह न भी हो और किसी उद्यमी ने अपने जीवन में ही बेशुमार प्रगति की है तो इसका कारण केवल यह है कि व्यवस्था के चलते उसके कारखानों में

कार्यरत श्रमिकों ने अपना श्रमोत्पाद, मामूली वृत्तिका के बदले कारखानेदार को समर्पित किया है। जैसे सैनिकों द्वारा जान की बाजी लगा देना किसी राजा के साम्राज्यवादी मनसूबों को साकार बनाता है। वैसे ही न्यूनतम मजदूरी के बदले अधिकतम श्रमोत्पाद पर कारखानेदार का अधिकार मान लेना और स्वयं मामूली वृत्तिका से संतुष्ट होकर रात-दिन काम में जुटे रहना, पूंजीपति को कामयाबी दिलाता है। उद्यमी की सफलता का स्तर बताता है कि श्रमिकों ने उसके उत्पादन-स्तर को शिखर तक पहुँचाने के लिए जी-जान से काम किया है। यहां त्याग का अर्थ न्यूनतम वृत्तिका के बदले मालिक को अधिकतम मुनाफा कमाकर संतुष्टि प्राप्त कर लेना है। जाहिर है सफलता चाहे राजा की हो या व्यापारी की, उसमें क्रमशः प्रजा अथवा श्रमिकों का योगदान होता है। यहां पूंजी और राष्ट्रवाद दोनों ही वर्चस्वकारी शक्तियों के स्वार्थ से जुड़े होते हैं। दोनों की प्रवृत्ति मानव-विवेक पर कब्जा कर लेने की होती है। अंतर केवल इतना है कि पूंजीवाद अपनी चमक-दमक और भौतिक सुखों का प्रलोभन देकर लोगों को आकर्षित करता है। राष्ट्रवाद के पास उग्र राष्ट्रप्रेम के सिवाय नागरिकों को देने के लिए कुछ नहीं होता। इसलिए वह भावुक प्रतीकों के माध्यम से लोगों को लुभाने का प्रयास करता है।

अमीर-गरीब, राजा-प्रजा के इस कृत्रिम विभाजन से बाहर निकलकर देखें तो प्राकृतिक स्तर पर उनके बीच कोई मौलिक अंतर नजर नहीं आता। राजा-प्रजा, अमीर-गरीब सभी को एक-समान जीवन-चक्र से गुजरना पड़ता है। धूपदृवर्षादृशीत सभी को लुभाते हैं।सभी को भूख-प्यास लगती है। यह ठीक है कि मनुष्य में प्राकृतिक स्तर पर अंतर होता है। एक मनुष्य शक्तिशाली हो सकता है और दूसरा शक्ति-विपन्न। परंतु प्राकृतिक स्तर पर शक्तिशाली और शक्ति-विपन्न व्यक्ति में अंतर का अनुपात उतना नहीं होता, जितना सामाजिक स्तर पर अमीर-गरीब, शक्तिशाली एवं शक्ति-विपन्न के बीच होता है। न प्रकृति अपने स्तर पर किसी प्रकार का भेदभाव करती है। चूंकि समाजीकरण की मूल-भूत अवधारणा समानता के सिद्धांत पर गढ़ी होती है, राज्य भी इसी दावेदारी के साथ जन-समर्थन प्राप्त करता है कि वह धनी-निर्धन, शक्ति-संपन्न एवं शक्ति-विपन्न के बीच बहुत अंधिक अंतर नहीं करेगा—इसलिए यदि किसी राज्य में ऐसा है तो समझ लेना चाहिए कि वह अपने गठन के मूल-भूत उद्देश्यों से भटका हुआ है। दूसरे शब्दों में समानता का आशय किसी व्यक्ति से राजा या पूंजीपति बनने के अवसर छीन लेना नहीं है। बल्कि जनसाधारण को इस आधार पर होने वाले

भेदभाव से मुक्ति दिलाना है। सफलता सदैव सापेक्षिक होती है, परंतु न्याय निरपेक्ष। इस आधार पर अरस्तु न्याय पर विमर्श के आरंभ में ही उसकी दो कसौटियां बना लेता है। पहली के अनुसार तयशुदा कानून की मर्यादा में रहना न्याय है। जिन कार्यों को राज्य की विधि-संहिता स्वीकारे, उनका अनुपालन न्याय है। जिनसे राज्य-समाज में शांति-सुव्यवस्था स्थापित होती हो, वह न्याय है। न्याय का दूसरा रूप अपने साथ बाकी लोगों की स्वतंत्रता और समानता का सम्मान करना है। जबकि अन्याय वह है जो कानून के विरुद्ध है। जिससे दूसरों के अधिकारों का हनन होता है, जिससे किसी व्यक्ति को उसके विधि-सम्मत देय से वंचित कर दिया जाता है।

समानता का आशय यह नहीं है कि व्यक्ति की पसंदों का ध्यान न रखा जाए। न्याय इसमें है कि प्रत्येक नागरिक को विकास के समान अवसर प्राप्त हों। इसके लिए अवसरों की समानता तथा किसी कारणवश विकास में पिछड़ चुके हैं नागरिकों को विशेष प्रोत्साहन देकर मुख्यधारा में लाने की कोशिश करते रहना—न्याय और समाजीकरण दोनों की प्रथम कसौटी है। अरस्तु ने न्याय को सर्वसाधारण के सामान्य हित की संज्ञा दी है। उसके अनुसार न्याय के दो पक्ष होते हैं। पहला व्यक्ति पक्ष और दूसरा वस्तु पक्ष। व्यक्ति का संबंध भी प्रकारांतर में वस्तुओं से होता है। उसके अनुसार न्याय का तकादा है कि सभी मनुष्यों को समान वस्तुएं निर्दिष्ट की जानी चाहिए। पर कैसे? यहां एक पेंच है जिससे समानता की हमारी सार्वत्रिक अवधारणा संकट में पड़ जाती है। समानता का विचार न तो रूढ़ है न ही व्यक्ति-निरपेक्ष। सभी व्यक्तियों को सभी अवसर दिए जाने का अभिप्राय यह नहीं है कि कोई व्यक्ति अपनी रुचि या अन्यान्य कारण से किसी पद के अयोग्य है तो समानता के सिद्धांत के अनुसार उसे उस पद की जिम्मेदारी सौंप देनी चाहिए। समानता की सीधी-सी अवधारणा है कि सभी व्यक्तियों को सभी अवसर प्राप्त हों। तदनुसार प्रत्येक नागरिक को यह अवसर मिलना चाहिए कि यदि वह स्वयं को राजपद के योग्य बना सके, तो वह पद उसकी पहुँच से दूर नहीं है। राज्य का हित भी इसमें है कि नागरिकों को यथा-योग्य पद प्राप्त हों। राजा उसी को चुना जाए जो राजा बनने के योग्य है। अरस्तु के अनुसार व्यक्ति के अधिकार उसकी योग्यता पर निर्भर करते हैं। तदनुसार राजा बनने का अधिकार उसी को मिलना चाहिए जो राजपद के योग्य है। श्रेष्ठ राज्य अपने लिए कसौटियां स्वयं तय करता है, जिनके माध्यम से वह स्वयं को नियंत्रित एवं विकासरत रख सकता है। वीरता, व्यक्तित्त्व, व्यवहार

कुशलता, दूरदर्शिता, बुद्धिमानी जैसे उदात्त चारित्रिक गुण यदि राजा बनने के लिए अपरिहार्य हैं–तो समानता के सिद्धांत के अनुसार जिस व्यक्ति में ये सभी गुण पर्याप्त मात्रा में मौजूद हों, उसे राजा बनने का अधिकार मिलना चाहिए। इसपर उसके परिवार अथवा उन गुणों को जिनका राजा के लिए अपेक्षित गुणों से कोई संबंध नहीं है, कोई प्रभाव नहीं पड़ना चाहिए। 'पॉलिटिक्स' के तीसरे खंड के 12वें अध्याय में अरस्तु बासुंरीवादक का उदाहरण देता है–

'यदि बहुत से व्यक्ति बासुंरी वादन की कला में निपुण हों तो उनमें से किसी व्यक्ति को सिर्फ इस कारण अच्छी या अधिक बांसुरियां नहीं दी जानी चाहिए, कि उसका संबंध किसी उच्च कुल से है।'

आगे वह स्पष्ट करता है–

'बासुंरी-वादन एक कला है, जिसका व्यक्ति के कुल से कोई संबंध नहीं है। इसी तरह यदि कोई व्यक्ति बासुंरी वादन की कला में पीछे है, मगर कुल और सुंदरता के मामले में बाकी प्रतिस्पर्धियों से आगे तो भी अच्छी अथवा सर्वाधिक बासुंरिया किसी वाद्य-कला में निपुण व्यक्तियों को ही दी जानी चाहिए। कुल-परिवार की सदस्यता के आधार पर भी व्यक्ति अच्छी बांसुरियों की दावेदारी कर सकता है, परंतु उसमें उन गुणों की प्रधानता अपरिहार्य है, जो बांसुरी वादन की कला के लिए अत्यावश्यक हैं।'

आशय है कि श्रेष्ठ वस्तुएं यथा-योग्य व्यक्तियों को प्राप्त हों। उन्हें प्राप्त हों, जिन्हें उनकी आवश्यकता है और जो उनका श्रेष्ठतम उपयोग करने में सक्षम हैं। परंतु योग्यता का मापदंड क्या हो? प्रत्येक व्यक्ति अपनी दृष्टि में योग्यतम होता है। फिर जो अधिकतम की दृष्टि में श्रेष्ठतम है, उसके भी आलोचक हो सकते हैं। इसे 'एथिक्स' में समझाया गया है। अरस्तु की यह पुस्तक नीतिशास्त्र की श्रेष्ठतम कृतियों में से है। सर्वथा मौलिक। इसके माध्यम से अरस्तु ने नैतिकता को उस दौर में परिभाषित किया, जब राज्य पर धर्म का नियंत्रण था। उत्तराधिकार में जो भी प्राप्त हो, उसे बचाए रखने और उसके माध्यम से अपनी महत्त्वाकांक्षाओं को शिखर तक ले जाने के लिए सारे उद्यम किए जाते थे, फिर उन्हें धर्म का नाम दे दिया जाता था। अरस्तु के अनुसार न्याय ज्ञान-विज्ञान की विभिन्न शाखाओं का अंतिम और वास्तविक लक्ष्य है। मनुष्य जो ज्ञानार्जन करता है, वह तब तक अनुयोगी या अल्प-उपयोगी माना जाएगा, जब तक उससे किसी न किसी रूप में न्याय की पुष्टि न होती है। ताकि प्रत्येक नागरिक को यह विश्वास हो जाए कि जो उसका प्राप्य है, वह उसको यथासमय प्राप्त होता रहेगा।

आखिर यह कैसे सुनिश्चित हो कि व्यक्ति को जो अधिकार है, वह उसे प्राप्त हैं। यहां राज्य की भूमिका महत्त्वपूर्ण हो जाती है। राज्य का कर्तव्य है कि वह यह सुनिश्चित करे कि उसके राज्य में किसी भी नागरिक के अधिकार बाधित न हों। न ही किसी के साथ कोई पक्षपात हो। यह ध्यान रखते हुए कि समानता न्याय का उद्देश्य है, लेकिन एकमात्र समानता को भी न्याय का पर्याय मान लेना अनुचित होगा। उदाहरण के लिए दो भिन्न व्यक्तियों की कल्पना कीजिए, जिन्हें खराद मशीन पर कोई पुर्जा बनाने को दिया जाता है। मान लीजिए उनमें से पहला दस नगों का उत्पादन करता है और दूसरा उतनी ही अवधि में बीस नगों का। चूंकि व्यक्ति का अपने श्रम पर अधिकार होता है, इसलिए कानून और नैतिकता दोनों दृष्टि में यह उचित माना जाएगा कि जिस व्यक्ति ने अधिक उत्पादन किया है, उसकी अतिरिक्त लाभ में आनुपातिक साझेदारी हो। पूंजीवादी व्यवस्था इसी को न्याय मानती है। उसके अनुसार इससे समाज में स्पर्धा बढ़ती है। चीजें सस्ती होती जाती हैं। उसकी भरपाई के लिए उत्पादक उत्पादन-वृद्धि का सहारा लेता है। उससे रोजाकर के अवसर बढ़ते हैं। उसके फलस्वरूप हुई उत्पादन वृद्धि का लाभ पूरे समाज को पहुँचता है। पूंजीवादी राज्यों की सरकारें भी कमोबेश वही सोचती हैं। परंतु राज्य की मजबूरी है कि उसे समाज के विभिन्न वर्गों के बीच संतुलन बनाकर रखना पड़ता है। उसके लिए वे अधिक आय वाले व्यक्तियों पर कराधान की सीमा बढ़ाकर बाकी लोगों को संतुष्ट करने का प्रयास करती हैं। यह केवल दिखावा ही होता है, क्योंकि एक ओर जहां अधिक करदृउगाही का का नाटक किया जाता है, वहीं दूसरी ओर पूंजीपतियों को विभिन्न प्रकार की छूट देकर, ओनेदृपौने दाम में राज्य के संसाधन लुटाकर प्रसन्न रखा जाता है।

यदि शत-प्रतिशत ऐसा हो जाए कि व्यक्ति को ठीक उतना ही प्राप्त हो, जितनी उसकी क्षमता है, तो सोचिए क्या यह जंगल के न्याय जैसी व्यवस्था न होगी? जंगल में भी प्राणी अपने सामर्थ्य के अनुसार शिकार करते हैं। चिड़िया मामूली कीड़े-मकोड़ों का शिकार करके पेट भरती है। शेर और चीता भारी-भरकम सांड को भी अपना शिकार बन सकते हैं। जानवर के लिए उसका शिकार एक तरह से उसका उत्पाद ही है। अतः न्याय दृष्टि से समानता व्यक्ति और समाज-निरपेक्ष नहीं होती। उसमें परिस्थिति अनुसार बदलाव होते रहते हैं। लेकिन समानता ऐसी पहेली भी नहीं है, जिसे समझा न जा सके। आखिर समानता किसकी और कैसे? सामान्य सिद्धांत के अनुसार असमान व्यक्तियों का हिस्सा समान नहीं हो सकता। समानता की न्यूनतम शर्त नागरिकों को न्याय की

अबाध प्रतीति है। यह ठीक है जन्म के आधार पर, स्थितियों के आधार पर लोगों की कार्यक्षमता में अंतर होता है। राज्य और समाज का गठन का उद्देश्य भी यही है कि व्यक्तिमात्र की इन दुर्बलताओं का असर उसकी खुशियों पर न पड़े। जहां कोई नियम या व्यवस्था न हो। दूसरों के सुख-दुख की परवाह किए बिना सभी मनमानी पर उतारू रहते हों। वहां राज्य की भूमिका नगण्य मानी जाएगी। यह नियम कि व्यक्ति को ठीक उतना ही प्राप्त हो, जितना उसका सामर्थ्य है–प्रकारांतर में समाज को इस स्वार्थी सोच की प्रेरणा बन सकता है। इससे समाजीकरण का उद्देश्य ही विफल हो जाएगा। अत: राज्य का कर्तव्य है कि वह उस नागरिकों को जो किसी कारण पिछड़े हुए हैं, विशेष प्रोत्साहन देकर दूसरों के बराबर लाने का प्रयास करे। साथ में यह विश्वास भी बनाए रखे की समाज की एकता, किसी भी व्यक्तिगत उपलब्धि से बड़ी है।

अरस्तु न्याय के पर्याय के रूप में सद्गुण को स्थापित करता है। राज्य के संदर्भ में 'न्याय राज्य का सद्गुण' है। उसकी व्याप्ति राज्य और उसके नागरिकों के आचरण से आंकी जानी चाहिए। न्याय वह है जिसे सभी नागरिक सही मानें। जिसकी श्रेष्ठतम के रूप में प्रत्येक नागरिक अपने जीवन में कामना करे। ठीक इसी तरह अन्याय वह है जो अधिकतम नागरिकों को नियम-विरुद्ध और अनुचित प्रतीत होता हो। किंतु न्याय और अन्याय, उचित और अनुचित की यह बहुत सरलीकृत व्याख्या है। यह दोनों को एक दूसरे का विरोधी दर्शाती है। सामान्यत: यह सही भी दिखता है। न्यायालय का कोई फैसला यदि बहुसंख्यक वर्ग को अनुचित और अन्यायपूर्ण लगता है तो वह उचित और न्यायपूर्ण हो ही नहीं सकता। लेकिन यह आवश्यक नहीं है कि न्याय और अन्याय, उचित और अनुचित को लेकर सभी नागरिकों की एकसमान राय हो। लोगों का न्याय-बोध उनकी संस्कृति और मानसिक प्रशिक्षण पर भी निर्भर करता है। राजशाही में राजा और उसके परिवार की सुरक्षा शेष जनसमाज की सुरक्षा से महत्त्वपूर्ण मानी जाती थी। उसके लिए अनेकानेक सैनिक की बलि दे देना राजधर्म माना जाता था। अधिकांश युद्ध राजाओं के व्यक्तिगत अहं और राजलिप्सा का परिणाम होते थे। अपने समग्र परिणाम में वे प्रजा के लिए अहितकारी होते थे। बावजूद इसके प्रजा अपने राजा और उसकी व्यवस्था को सराहती थी, क्योंकि उसका मानसिक प्रशिक्षण इसी तरह का होता था। जनतांत्रिक समाजों में नागरिकों का सोच स्वतंत्र होता है। निर्णय-विशेष को कुछ लोग उचित मान सकते हैं और कुछ अनुचित। कुछ ऐसे नागरिक भी हो सकते हैं जिन्हें वह निर्णय आंशिक अनुचित और

अन्यायपूर्ण अथवा आंशिक उचित और न्यायपूर्ण लगता हो। इस तरह लोगों की दृष्टि के अनुसार न्याय और अन्याय के अनेक रूप संभव हैं। लेकिन राज्य की दृष्टि में न्याय का केवल एक रूप होता है। सभी नागरिकों के साथ समान वर्ताब और समाज में कल्याण विस्तार। ऐसे समाजों में कर्तव्यपरायण मनुष्य, न्याय-संगत बने रहने के लिए वही करता है जो समाज की निगाह में उचित है। वैसा ही सोचता है, जिसे न्याय-संगत माना जा सके।

वे कौन-सी स्थितियां हैं, जब मनुष्य के कर्म को न्याय-पूर्ण नहीं माना जा सकता? इसे समझना मुश्किल नहीं हैं। उपर्युक्त विवरण के आधार पर देखें तो दो मुख्य स्थितियां हैं जिनके आधार पर मनुष्य के कृत्य को अनुचित या अन्यायपूर्ण कहा जा सकता है। पहला जब वह कानून तोड़ता है। ऐसे काम करता है जो राज्य तथा समाज की निगाह में अनुचित हैं। दूसरी स्वार्थपरता समाज में रहते हुए उससे अधिक ग्रहण करना जितना अधिकार है। अपने अलावा दूसरों की आवश्यकता पर विचार ही न करना। बल्कि जिसपर दूसरों का अधिकार है, उसे भी हड़प कर जाना। अरस्तु के अनुसार उचित होने के लिए कानून सम्मत और निस्वार्थ होना आवश्यक है। जो कानून-सम्मत नहीं है। जो अपने आचरण में निष्ठावान तथा दूसरों के प्रति ईमानदार नहीं है, इसलिए वह उचित भी नहीं है। उचित की बहुमान्य परिभाषा उपलब्ध संसाधनों, अवसरों और कर्तव्यों में न्याय-पूर्ण हिस्सेदारी है। ऐसी सहभागिता जिससे दूसरों के अधिकार निर्बंध रहें। सच यह भी है कि समाज में रहते हुए अपने हिस्से से अधिक लेना हमेशा अन्यायपूर्ण नहीं होता। कई बार अपने हिस्से को छोड़ देना या दूसरों का हिस्सा भी हड़प जाना प्रशंसा का पात्र बना देता है। जब कोई भूखा व्यक्ति अपने आगे रखी थाली, ज्यों की त्यों दूसरे भूखे प्राणी को सौंप देता है तो उसकी नैतिकता हमें भावाकुल कर देती है। ठंड से ठिठुरते किसी व्यक्ति को अपने वस्त्र उतारकर दे देना मानव-चरित्र की उदात्तता से परचाता है। इसी प्रकार सारे के सारे दुर्योग को, जिससे बहुत-से लोगों के अनिष्ट की संभावना हो, अपने हिस्से समेट लेना भी उचित और सराहनीय माना जाएगा। ऐसी कई कहानियां हैं, जिनमें अपनी दोषी संतान को बचाने के लिए पिता उनके सारे अपराध अपने सिर ले लेते हैं। समुद्रमंथन की मिथ-कथा के अनुसार शिव सबके हिस्से का विषपान करके ही नीलकंठ कहलाए थे। किसी व्यक्ति में कम बुराइयां हों, यह भी अच्छी बात है। अब सवाल है कि कानून क्या है? उससे व्यक्ति का हित सधता है या राज्य का। अथवा व्यक्ति और राज्य दोनों का?कुछ विद्वानों का मानना है कि श्रेष्ठ

नागरिक आत्मानुशासित होता है। उसे अपने और दूसरों के सुख-दुख की चिंता होती है। इसलिए वह किसी के जीवन में अनावश्यक हस्तक्षेप नहीं करता। ऐसे व्यक्ति को कानून की आवश्यकता नहीं पड़ती। यह बात सही हो सकती है। परंतु हमेशा सही हो आवश्यक नहीं है। कानून अदालती प्रक्रिया मात्र नहीं है। कानून का पलड़ा हालांकि समाज के शीर्षस्थ वर्गों की ओर झुका होता है। फिर भी उसमें कई ऐसी खूबियां होती हैं, जिनकी अनुपस्थिति समाज की एकता और अखंडता के लिए खतरा बन सकती है। उनके अभाव में प्रत्येक नागरिक 'श्रेष्ठ आचरण' की परिभाषा अपने हिसाब से करेगा। प्रकारांतर में सब मनमानी उतर आएंगे। परिणामस्वरूप समाज के गठन का उद्देश्य ही कमजोर पड़ जाएगा। इसलिए कानून के रूप में सुनिश्चित आचार-संहिता का होना आवश्यक है।

अरस्तु के अनुसार कानून विधायी व्यवस्था है। राज्य यदि नागरिकों के प्रति उदार है तो कानून नागरिक-अधिकारों के पक्ष में झुका पाएगा और मानवदृमात्र के अधिकारों का ध्यान रखेगा। यदि कानून का गठन कुछ लोगों की मर्जी से, स्वार्थ-भावना के साथ हुआ है तो उसका झुकाव शिखर पर मौजूद अल्पतंत्र अथवा कुलीनतंत्र के पक्ष में नजर आएगा। केवल उन्हीं लोगों के भले की सोचेगा है जो किसी न किसी रूप से सत्ता से जुड़े हों। निरंकुशता की भावना से गठित कानून केवल तानाशाह की मर्जी से संचालित होंगे। सही मायने में तो वे तानाशाह के स्वार्थ से इतर कुछ हो ही नहीं सकते। इससे हम राज्य में न्याय की मौजूदगी को परखने के लिए कुछ मापदंड बना सकते हैं। ऐसे कानून जिनसे राज्य की उदारता झलकती हो, जो समाज के अधिक से अधिक लोगों के कल्याण की भावना से बनाए गए हों, वे कानून न्याय-संगत माने जाएंगे। जबकि ऐसे कानून जिनसे अल्पसंख्यक वर्गों की स्वार्थसिद्धि होती हो, अथवा जिनका गठन तानाशाह की इच्छाओं को दूसरों पर लादने के लिए हुआ हो, उन्हें न्यायसंगत मानने में हमें संकोच होगा। जिस राज्य में पहली कसौटी का पालन होगा, वह कल्याण-राज्य के मापदंडों के अनुरूप होगा। उसमें शुभ की व्याप्ति होगी। तदनुसार न्यायकारी शक्तियों का सत्ता-प्रेम अथवा उनपर शासक वर्गों का नियंत्रण शासन की निरंकुशता का परिचायक होता है।

इस विवेचन से न्याय को समझा जा सकता है। न्याय हमेशा दूसरों के प्रति होता है। लेकिन मनुष्य दूसरों के प्रति तभी न्याय कर सकता है, जब उसे अपने प्रति न्याय की उम्मीद हो। इस तरह न्याय सद्‌गुण है। व्यक्ति का समाज और समाज का अपने नागरिकों के प्रति कल्याण-भाव जिससे झलकता हो, वह

सद्‌गुण है। समाज में सद्‌गुण से श्रेष्ठ कुछ नहीं होता। वह निर्मेल्य होता है। अरस्तु के अनुसार 'न्याय कुल मिलाकर संपूर्ण सद्‌गुण या सद्‌गुणों का समुच्चय है। वह इसलिए सद्‌गुण है, क्योंकि वह व्यक्ति का अपने पड़ोसियों, अपने मित्र, हितैषी यहां तक कि आलोचकों के प्रति न्याय-भाव को दर्शाता है। कुल मिलाकर सद्‌गुण किसी भी समाज की श्रेष्ठतम उपलब्धि हैं। यदि कोई व्यक्ति केवल अपने मित्रों और सगे-संबंधियों के प्रति न्यायपूर्ण आचरण करता है और बाकी समाज के प्रति वैसा करने से बचता है, तो उसका आचरण न्याय की कसौटी पर स्वार्थपूर्ण माना जाएगा। दूसरे शब्दों में न्याय सद्‌गुण है और सद्‌गुण वह है, जिसे कोई व्यक्ति दूसरों के प्रति कल्याण-भाव के साथ करता है। न्यायपूर्ण व्यक्ति वह है जो दूसरों की हितसिद्धि के लिए बिना किसी स्वार्थ-भाव से प्रयासरत रहता है और ऐसा व्यक्ति जो केवल स्वार्थ-सिद्धि में लीन रहता है, दूसरों को किसी प्रकार का कष्ट पहुँचाता है अथवा उन वस्तुओं पर कब्जा करता है, जो किसी दूसरे का अधिकार हैं, अन्यायी की श्रेणी में आएगा।

6

जेम्स मिल

जेम्स मिल (1773-1836) स्कॉटलैण्ड के इतिहासकार, राजनीतिज्ञ, दार्शनिक एवं मनोवैज्ञानिक थे। डेविड रिकार्डो के साथ उन्हें क्लासिकल अर्थशास्त्र का जनक माना जाता है। वे जॉन स्टूवर्ट मिल के पिता थे।

परिचय

जेम्स मिल 'इंडोलोजी' की उस प्रवृत्ति के अग्रदूत थे जिसने संस्कृत भाषा, साहित्य, दर्शन, हिंदू धर्म, हिंदू समाज व्यवस्था और ब्राह्मणों की निंदा शुरू की। जेम्स मिल ने 1817 में 'ब्रिटिश भारत के इतिहास' में व्यवस्थित ढंग से रखा। इसे भारत का पहला प्रामाणिक इतिहास मान लिया गया। जेम्स मिल 1819 में कंपनी के 'बोर्ड' में नियुक्त हुए और दस वर्षों के भीतर ही भारत का संपूर्ण ब्रिटिश प्रशासन उनके अधीन आ गया। उनकी पुस्तक कंपनी सरकार के हर कर्मचारी को पढ़नी पड़ती थी। उसी आधार पर भारत का शासन चलता था। मिल भारत कभी नहीं आए। उन्होंने मनुस्मृति के एक भ्रष्ट अनुवाद और हालहेडकृत 'ए कोड ऑफ गेंटू लॉज' के प्रमाण पर हिंदू विरोधी, भारत विरोधी, ब्राह्मण विरोधी और संस्कृत विरोधी स्थापनाएं कर डालीं जो बहुत प्रभावी हुईं। इस कारण उन्हें साम्राज्यवादी इतिहासकार माना जाता है।

उन्होंने व्यापार, शिक्षा, प्रेस की स्वतंत्रता, तथा कारागार अनुशासन पर बहुत लेख लिखे। परन्तु उनकी प्रमुख रचनाएँ तीन पुस्तकें थीं जिनके विषय थे- भारत

का इतिहास, राजनीतिक अर्थशास्त्र के तत्त्व और मन का विश्लेषण। इतिहास ग्रंथ में उन्होंने अंग्रेजों द्वारा भारत पर विजय एवं शासन के संचालकों के व्यवहार की कड़ी आलोचना की। परिणामस्वरूप यह इंग्लैंड के इंडिया हाउस के अधिकारी और फिर संचालक नियुक्त कर दिए गए।

उन्होंने इंग्लैंड की राजनीति के दार्शनिक परिवर्तनवाद की स्थापना की और मताधिकार के विस्तृत विस्तार द्वारा सुराज्य की सुरक्षा का पक्ष लिया। उन्होंने प्रसिद्ध दार्शनिक बेंथम के सिद्धांतों का समर्थन करते हुए उनके मनोवैज्ञानिक पक्ष का विकास किया और साहचर्यवाद को मानसिक यांत्रिकी का रूप देकर सर्वोत्कर्ष पर पहुँचा दिया। उन्होंने सभी मानसिक घटनाओं को साहचर्य से और समस्त साहचर्य को अव्यवधान अर्थात एक साथ घटित होने से उत्पन्न प्रतिपादित किया। इन्होंने भारतीय इतिहास का विभाजन हिन्दू काल , मुस्लिम काल और ब्रिटिश काल में किया।

मन से दार्शनिक कर्म से इतिहासकार–अर्थशास्त्री जेम्स मिल भारत के बारे में अपनी औपनिवेशिक सोच के लिए विख्यात है। ईस्ट इंडिया कंपनी में नौकरी करते हुए उसने 'ब्रिटिश भारत का इतिहास' नामक बृहद ग्रंथ लिखा, जो खासा विवादित हुआ। पुस्तक में मिल ने यह दर्शाने की कोशिश की थी कि अंग्रेजों के आने से पहले भारत में राजनीतिक अराजकता की स्थिति थी। अंग्रेजों ने भारत का नागरीकरण करने के साथ–साथ यहां के नागरिकों को 'सभ्य' बनाने में भी मदद की। मिल की भारती विरोधी टिप्पणियों को नजरंदाज कर दिया जाए तो वह एक बेहतर इंसान था। अपनी बहुमुखी प्रतिभा के बल पर उसने गरीब परिवार से उठकर समाज अपना स्थान बनाया। उसने अपने गुरु बैंथम के विचारों को स्वीकृति दिलाने का भी काम किया। उसको इतिहास से ज्यादा प्रसिद्धि अर्थशास्त्र के क्षेत्र में मिली। कुल मिलाकर वह अपने समय का महान विचारक, शिक्षाशास्त्री और दार्शनिक था। भारत के बारे में उसने वही लिखा, जो कंपनी उससे लिखवाना चाहती थी। हम इसे उसका वैचारिक विचलन या पद और प्रतिष्ठा के लिए किया गया समझौता कह सकते हैं।

स्काटिश इतिहासकार, अर्थशास्त्री एवं दर्शनशास्त्र के परम विद्वान जेम्स मिल का जन्म 6 अप्रैल 1773 को नार्थवाटर ब्रिज, स्काटलेंड में हुआ था। उसके पिता का नाम भी जेम्स मिल ही था। उसका परिवार गरीब था। पिता मोची का काम करते थे। जबकि मां इसबेल फेंटन का संबंध एक संपन्न किसान परिवार से था। वह स्वयं भी विदुषी एवं दूरदर्शी महिला थीं। बालक जेम्स को मां के

ही संस्कार अधिक मिले। परिणाम यह हुआ कि उसकी बचपन में अच्छी शिक्षा-दीक्षा हुई। मां की पहल पर ही आगे की शिक्षा कि लिए जेम्स को चर्च द्वारा संचालित धार्मिक पाठशाला में भर्ती करा दिया गया। वहां से प्रारंभिक शिक्षा प्राप्त करने के पश्चात वह मेंट्रोस चला गयाय जहां से उसने अपनी स्कूली शिक्षा पूरी की। उच्चशिक्षा के लिए लगभग सतरह वर्ष की अवस्था, यानी 1790 में जेम्स एडिनबर्ग विश्वविद्यालय में भर्ती हो गया। दाखिले के समय जेम्स को कुछ परेशानियों का सामना करना पड़ा। कारण विश्वविद्यालय में प्रवेश के लिए अधिकतम आयु तेरह-चौदह वर्ष तक सीमित थी। जेम्स को दाखिला दिलाने में सर जॉन स्टुअर्ट की प्रेरणा और प्रयास दोनों ही काम आए। इस कारण वह उनका सदैव ऋणी बना रहा। यहां तक कि उसने अपने पुत्र का नामकरण भी सर जान स्टुअर्ट की प्रेरणा पर, उने प्रति अपना स्नेह और सम्मान को व्यक्त करने के लिए जान स्टुअर्ट मिल रखा।

एडिनबर्ग विश्वविद्यालय में अध्ययन के दौरान जेम्स ने स्वयं को मेधावी विद्यार्थी सिद्ध करते हुए ग्रीक साहित्य का उच्च अध्ययन किया। विशेषरूप से प्लेटो के दर्शन का। एडिनबर्ग में रहते हुए वह उस समय के प्रख्यात दार्शनिक डुगाल्ड स्टीवर्ट के संपर्क में आया जो उस समय स्काटिश पुनर्जागरण के आंदोलन के बेहतरीन व्याख्याकार थे। इसी दौरान उसने बैंथम की पुस्तकों का भी अध्ययन किया। उस समय उसको लगा कि उसका मानसिक प्रस्फुटन हो रहा है। बैंथम के विचारों ने उसको बहुत प्रभावित किया। विशेषकर उसकी सुखवादी विचारधारा, जिसका प्रभाव जेम्स के आगामी लेखन पर भी बना रहा।

अध्ययन के पश्चात जीविका का प्रश्न खड़ा हुआ तो जेम्स को नौकरी की तलाश में जुटना पड़ा। सन 1790 से 1802 तक वह संघर्ष करता रहा। इस बीच चर्च की मामूली नौकरी तथा बच्चों को ट्यूशन पढ़ाते हुए उसने 1794 में परास्नातक की डिग्री प्राप्त की। निरंतर अध्ययन में रहते हुए उसने दर्शन, इतिहास तथा राजनीति का ज्ञान प्राप्त कर लिया। इससे उसका आत्मविश्वास बढ़ा, साथ ही सुप्त महत्त्वाकांक्षाएं भी। उसके पश्चात् जेम्स को लगा कि स्काटलेंड में तरक्की के भरपूर अवसर नहीं हैं, तो वह 1802 में वह सर जॉन स्टुअर्ट के साथ लंदन के लिए रवाना हो गया। जहां जेम्स को उसका पसंदीदा काम भी मिल गया। सन 1803 में वह एक महत्त्वपूर्ण साहित्यिक पत्रिका Literary Journal का संपादक नियुक्त हो गया, जिसपर रहते हुए उसने अनेक शोधपरक आलेख लिखे। परिणामतः पूरे यूरोप में उसकी विद्वता की धाक जमने लगी। इस पत्रिका

की शुरुआत 1803 में हुई थी। जेम्स के नेतृत्व में पत्रिका की प्रतिष्ठा में खूब वृद्धि हुई। किंतु 1806 में पत्रिका के अचानक बंद होने से जेम्स के आगे पुनः जीविका का संकट पैदा हो गया। मगर तब तक वह पर्याप्त आत्मविश्वास अर्जित कर चुका था। इस कारण उसने भविष्य में केवल लेखन के सहारे जीने का निर्णय लिया।

सन 1805 में मिल ने एक विधवा स्त्री की बेटी हैरिएट बुरा से विवाह किया। जिससे अगले ही वर्ष उसके पुत्र जान स्टुअर्ट मिल का जन्म हुआ। लगभग उसी वर्ष मिल ने अपनी महत्त्वाकांक्षी पुस्तक 'ब्रिटिश भारत का इतिहास' पर काम करना प्रारंभ किया जिसे पूरा होने में बारह वर्ष लगे। 1808 में वह बैंथम और डेविड रिकार्डो के संपर्क में आया। दोनों ने ही उसे गहरे तक प्रभावित किया। कुछ ही समय में तीनों गाढ़े मित्र गए। रिकार्डो ने मिल का परिचय अर्थशास्त्रीय सिद्धांतों से कराया। मिल अभी तक बैंथम के सामाजिक दर्शन से प्रभावित था। लेकिन रिकार्डो के संपर्क में आने के बाद उसकी अर्थशास्त्रीय लेखन में भी रुचि बढ़ने लगी। आश्चर्यजनक रूप में मानवीय ज्ञान की ये दोनों ही धाराएं, उसके मस्तिष्क में अपनी स्वतंत्र सत्ता को बनाए रहीं। बैंथम और रिकार्डो से प्रभावित होने के बावजूद मिल का अपना स्वतंत्र चिंतन भी था। अपने किंचित मतभेदों के कारण, वह न तो बैंथम के सुखवाद का अर्थशास्त्र से तालमेल बिठा पाया, न ही वह सुखवादियों के मूलमंत्र 'अधिकतम लोगों के लिए अधिकतम सुख' के आधार पर सरकार की मुद्रा एवं कराधान संबंधी नीतियों की समीक्षा कर पाने में असमर्थ रहा।

जो भी हो, मिल को बैंथम की विचारधारा ने बेहद प्रभावित किया था। इसका परिणाम यह हुआ कि आगे कई वर्षों तक वह बैंथम का सहयोगी और समर्थक बना रहा। उसने अपनी सर्जनात्मक ऊर्जा का बड़ा हिस्सा बैंथम के विचारों को प्रचारित कराने में लगा दिया। मिल की रचनात्मकता का अगला चरण 1811 में देखने को मिलता है, जब उसने विलियम एलेन के सहयोग से एक पत्रिका 'फिलिंथ्रोपिस्ट' का प्रकाशन शुरू कर दिया। पत्रिका में मिल ने शिक्षा, प्रेस की स्वाधीनता, मानव-कल्याण तथा कैदियों की समस्याओं तथा उनकी अनुशासनात्मकता को लेकर कई महत्त्वपूर्ण लेख लिखे। मिल से पहले बैंथम भी कैदियों की समस्याओं पर विचार तथा कारागार की अमानवीय परिस्थितियों की आलोचना कर चुका था। कह सकते हैं कि जेलों को अधिकाधिक मानवीय बनाने के पीछे मिल पर बैंथम का ही प्रभाव था। इस दौरान उसे सुखवाद के

विचार को लेकर भी कई आलेख पत्र-पत्रिकाओं के लिए लिखे। आगे चलकर वे निबंध 'ब्रिटैनिका एन्साक्लोपीडिया' के पांचवे खंड में भी प्रकाशित हुए। जिससे जनमानस के बीच मिल की छवि सुखवाद के व्याख्याकार के रूप में बनती चली गई।

सन 1818 में 'ब्रिटिश भारत का इतिहास' पुस्तक के प्रकाशित होने के साथ ही मिल की गिनती अपने समय के प्रमुख विद्वानों में होने लगी। इस पुस्तक को भारी सफलता प्राप्त हुई। हालांकि इसके कारण उसकी आलोचना भी खूब हुई। इसलिए कि भारत को लेकर मिल का सारा ज्ञान केवल पुस्तकों, अखबारी समाचारों तथा उन अंग्रेज अधिकारियों की टिप्पणियों तक सीमित था, जो या तो भारत में ब्रिटिश सरकार के लिए कार्य कर चुके थे, अथवा किसी न किसी रूप में उससे संबद्ध थे। जाहिर है कि भारत को लेकर उनके विवरण पूर्वाग्रह से भरे और एकपक्षीय थे। इस लिए मिल ने अपनी पुस्तक में एक तरह से तत्कालीन ब्रिटिश सरकार का बचाव ही किया था। उन दिनों ब्रिटिश सरकार अपनी उपनिवेशवादी नीतियों के कारण लोगों की आलोचना झेल रही थी। मिल की पुस्तक उसके उपनिवेशवादी सोच को मान्यता प्रदान करती थी। इसलिए मिल को उसका लाभ भी मिला। पुस्तक लिखने के साथ ही मिल को इंडिया हाउस में नियुक्ति मिल गई। आगे भी विभिन्न राजनीतिक पदों पर रहते हुए उसे उसने खूब प्रतिष्ठा एवं मान-सम्मान अर्जित किया।

जैसा कि ऊपर कहा गया है, मिल बैंथम के साथ-साथ रिकार्डो के अर्थशास्त्र संबंधी चिंतन से भी प्रभावित था। अर्थशास्त्र से उसकी पहली असली मुठभेड़ 'कार्न लॉ' के औचित्य को लेकर लिए गए एक लेख के दौरान हुई। थोड़ा विषयांतर में जाते हुए हम बता दें कि 'कार्न लॉ' की व्यवस्था यूरोप में यद्यपि बारहवीं शताब्दी के दौरान की गई थी। इसका विकट रूप सन 1815 में नेपोलियन युद्ध के पश्चात उस समय देखने को मिला जब कृषि-क्षेत्र को घाटे से उबारने के लिए अनाज के आयात पर रोक लगा दी गई। इस व्यवस्था का उद्देश्य किसानों को मंदी की मार से बचाना था। मॉल्थस जैसा प्रतिष्ठित अर्थशास्त्री कार्न लॉ के पक्ष में था। अनाज पर लगाया गया प्रतिबंध एक सीमा तक तो कारगर सिद्ध हुआ। इसने किसानों को मंदी की मार से उबारने में बड़ी मदद की, किंतु जैसे-जैसे किसानों की आर्थिक स्थिति सुधरती गई, इससे होने वाली समस्याओं में भी सतत वृद्धि होने लगी। कारण, कानून के प्रभाव से किसानों की आय बढ़ी थी, साथ ही उनका प्रभाव भी। अब वे इस अवस्था में

पहुँच चुके थे कि अनाज का मनमाना भाव तय करने के लिए सरकार पर दबाव डाल सकें अथवा अनुकूल समय आने पर उसको महंगे दामों पर बेच सकें। इसका समाज पर विपरीत प्रभाव पड़ा। दाम बढ़ने से गरीबों की मुश्किलें बढ़ने लगीं। दूसरी ओर चीजों के मूल्य में भी उसी अनुपात में तेजी आई। परिणामत: अर्थव्यवस्था लड़खड़ाने लगी और 'कार्न लॉ' के विरुद्ध माहौल बनने लगा।

1804 में 'कॉर्न लॉ' की आलोचना करते हुए जेम्स मिल ने अनाज के आयात पर लगे सभी प्रतिबंध हटा लेने की जनता की मांग का समर्थन किया। उसने पर्याप्त तर्क देते हुए माल्थस की आलोचना भी की जो उस कानून के पक्ष में था। उससे अगले ही लेख में उसने कॉबेट तथा स्पेंस के उस आलेख की पर्याप्त तर्क सहित आलोचना की, जिसमें उन्होंने दावा किया था कि भूमि, न कि उद्योग, ही वास्तविक राष्ट्रीय संपत्ति है कि राष्ट्रों के बीच व्यापारिक संबंध घाटे के सौदे रहे हैं कि कारण जनता की जमाराशि राष्ट्र पर किसी प्रकार का भार नहीं है और लगाए गए कर उत्पादकता में बढ़ोत्तरी करते हैं। यह भी कि संकट का वास्तविक कारण जमाखोरों की देन है। मिल का यह भी कहना था कि किसी भी राष्ट्र की कुल सालाना बिक्री और सालाना खरीद में सदैव अंतर होता है। अत: व्यापार में स्थायित्व के लिए किसी भी वस्तु की अतिरिक्त आपूर्ति को आवश्यक रूप से अन्य किसी वस्तु की अतिरिक्त मांग द्वारा संतुलित रखना चाहिए।

सन 1808 में अपनी पत्रिका Commerce Defended के एक लेख में उसने साफ किया कि–

'किसी भी राष्ट्र के पास कोई एक वस्तु उसकी आवश्यकता से बहुत अधिक हो सकती है, यद्यपि वह अपनी विश्व-भर में कुल मांग से अधिक कभी नहीं हो सकती। ऐसी वस्तु की अतिरिक्त मात्र को जरूरत के स्थान पर आसानी-से ले जाना संभव है, किंतु ऐसी परिस्थितियां उत्पन्न हो सकती हैं कि वहां से कोई और आवश्यक वस्तु उचित मात्र में उपलब्ध न हो सके। अत: सवाल उठता है कि उस समय क्या किया जाए जब बाजार में कोई वस्तु अतिरिक्त मात्रा में मौजूद हो। उस अवस्था में उस वस्तु के उत्पादन में लगे संसाधनों का उपयोग, संतुलन की अवस्था तक, उस वस्तु के निर्माण के लिए करना उचित होगा, जिसका कि अभाव बना हुआ है। संतुलन की स्थिति में बाजार में न तो कोई वस्तु अपनी मांग से अधिक उपलब्ध होगी, न ही किसी वस्तु का अभाव हो सकेगा।'

मिल ने रिकार्डो को उसकी अर्थशास्त्र संबंधी टिप्पणियों को प्रकाशित करने के लिए प्रेरित किया। जिसके कारण आगे चलकर उसे ब्रिटिश संसद की सदस्यता से सम्मानित किया गया। 1821 में उसने लंदन में 'पॉलिटिकल इकानॉमी क्लब' की स्थापना में मदद की जो आगे चलकर रिकार्डो के अर्थशास्त्र संबंधी विचारों तथा बैंथम के सुधारवाद का प्रमुख विमर्श-स्थल सिद्ध हुआ। इसी वर्ष मिल की एक और विशिष्ट कृति Elements of Political Economy प्रकाशित हुई, जिसमें उसने रिकार्डो के अर्थशास्त्र संबंधी विचारों की विस्तार सहित विवेचना की गई है। यह पुस्तक कुछ ही समय में रिकार्डो के विचारों को समझने का मुख्य माध्यम बन गई। इस पुस्तक को प्रकाशन के साथ ही खूब लोकप्रियता मिली। केवल तीन सालों में पुस्तक का तीसरा संस्करण बाजार में आ गया। सन 1831 से 1833 तक ईस्ट इंडिया कंपनी के प्रवक्ता के पद पर रहते हुए मिल ने कई कानूनी मामलों में कंपनी की मदद की। 1834 में 'लंदन रिव्यू' में उसने चर्च के विधान में सुधार की संभावनाओं पर केंद्रित एक लेख लिखा, जिसने खूब चर्चा प्राप्त की, जिससे उसकी गिनती उस समय के प्रसिद्ध सुधारवादियों में होने लगी।

1836 में निधन होने तक वह लगातार लेखन करता रहा। हालांकि उस समय तक उसके दोनों फेफड़े क्षतिग्रस्त हो चुके थे। 23 जून 1836 को लंबी बीमारी के पश्चात उसका निधन हो गया। उसका लेखन विभिन्न सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक मामलों पर मौलिक विचारात्मक टिप्पणियों से भरा पड़ा है, जिससे उसकी विलक्षणता का सहज अनुमान लगाया जा सकता है। मिल की अंतिम पुस्तक Fragment on Mackintosh मृत्यु से मात्र एक वर्ष पहले प्रकाशित हुई थी। हालांकि उसे उसकी बाकी पुस्तकों जितनी प्रशंसा नहीं मिल सकी। लेकिन वह अपने विचारों से आने वाले विचारकों को प्रभावित करने में सक्षम रहा, जिनमें कार्ल मार्क्स, जान स्टुअर्ट मिल आदि शामिल थे।

वैचारिकी

एक बेहद साधारण परिवार में जन्मे, कठिनाइयों में पले, बचपन से ही मेधावी मिल अपने अध्वसाय से जो ख्याति अर्जित की, उसके कारण उसकी गिनती विश्व के उन महान दार्शनिकों में होती है, जो मानवमात्र के सुख की चिंता करते थे, जिन्होंने अपना संपूर्ण जीवन रचनात्मक लेखन को समर्पित किया था। जो मात्र अपनी प्रतिभा के बल पर एक सामान्य परिवार से आगे बढ़कर

समाज में अपना खास स्थान हासिल कर सके और जिनके कारण समाज में सत्य एवं नैतिकता अपना सुरक्षित स्थान बनाए रख सके हैं। जेम्स मिल ने भी अपनी अद्वितीय मेधा के दम पर बौद्धिक जगत में अपने लिए विशिष्ट स्थान बनाया।

विलक्षण प्रतिभा के धनी मिल ने दर्शनशास्त्र के अध्ययन की शुरुआत प्लेटो के दर्शन से की। उसने विद्यार्थीकाल में प्लेटो की दर्शन की समालोचना करने वाले अनेक निबंध लिखे। जिसके कारण उसको प्लटो के दर्शन का आधिकारिक विद्वान माना गया। यही नहीं उसने अध्ययन के दौरान ही ग्रीक तथा लैटिन भाषाओं का स्तरीय ज्ञान प्राप्त किया तथा उनमें सृजनात्मक लेखन की छाप छोड़ी। अपनी युवा अवस्था के दिनों में वह बैंथम के विचारों के संपर्क में आया और उसके सुखवाद से प्रेरणा लेकर उसके विचार को आगे विस्तार दिया। मिल उच्च कोटि का विद्वान, इतिहासकार, साहित्यकार, राजनेता एवं दार्शनिक था। उसका सारा साहित्य मौलिकता की श्रेणी में आता है। रिकॉडों तथा बैंथम से प्रेरणा लेते हुए उसने सुखवाद के विचार को मान्यता दी तथा उसके प्रचार के लिए अनेक पुस्तकें तथा लेख आदि लिखे, जिन्हें विद्वानों की भरपूर सराहना प्राप्त हुई। उसका लेखन अर्थशास्त्र, राजनीति, इतिहास, दर्शनशास्त्र आदि क्षेत्रों में फैला हुआ है। कुछ विद्वानों को उसके विचारों में यत्र-तत्र विरोधाभास भी नजर आता है, किंतु यह कोई अनोखी बात नहीं है। इस प्रकार के विरोधाभास तो प्राय: सभी विलक्षण प्रतिभा-संपन्नों के साथ होते रहे हैं।

इंग्लैंड की उपनिवेशवादी राजनीति को स्थिर बनाने एवं उसको वैचारिक-बौद्धिक समर्थन देने में जितना अधिक योगदान जेम्स मिल का रहा, उतना शायद ही किसी और विद्वान लेखक-साहित्यकार का रहा हो। इसका उसको लाभ भी मिला। ब्रिटिश सरकार ने उसको उच्च पद एवं विविध सम्मान से उपकृत किया। हालांकि ब्रिटिश सरकार की साम्राज्यवादी नीतियों का समर्थन करने के लिए उसको आलोचनाओं का सामना भी करना पड़ा था। उसके आलोचकों की बात में दम भी है। क्योंकि कई स्थान पर वह ब्रिटिश औपनिवेशिक नीतियों का मूक समर्थक नजर आता है, जिससे उसके आलोचकों को उसकी निष्ठा पर संदेह होने लगता है।

मिल ने भारत को लेकर अपनी पुस्तक में एक स्थान पर चौंका देने वाला उल्लेख किया कि–

''ईस्ट इंडिया कंपनी ने भारत को सभ्य बनाने, उसका नागरीकरण करने में मदद की थी। अंग्रेजों के आने से पहले भारत एक बर्बर युग से बाहर आने

के लिए छटपटा रहा था।' हालांकि बाद में मिल ने अपने ही कथन का उलट करते हुए भारत में ब्रिटिश राज को 'समाज के संपन्न तबके के लिए बाहरी मदद उपलब्ध कराने वाला व्यापक तंत्र'' कहकर ब्रिटिश राज्य की वास्तविक खामियों की ओर इशारा भी किया था।

एक ओर व्यक्ति-स्वातंत्रय और जनवादी विचारधारा का पक्ष लेना तथा दूसरी ओर एक औपनिवेशिक सत्ता के समर्थन में भारी-भरकम तर्क गढ़ना, ये जेम्स मिल के जीवन के अंतर्विरोध हैं। लेकिन ऐसे अंतर्विरोधों से शायद ही कोई बच पाया हो। 'ब्रिटिश भारत का इतिहास' नामक ग्रंथ से जेम्स मिल की इतिहास में रुचि जाहिर होती है। किंतु उसका योगदान केवल ऐतिहासिक क्षेत्र तक ही सीमित नहीं है। सच में तो मिल का लेखन मानवीय स्वतंत्रता एवं समानता के लिए समर्पित था। उसने अपने लेखों तथा व्यक्तिगत प्रयासों से उदारवादी राजनेताओं को प्रभावित किया, जिसका फ्रांसिसी क्रांति पर व्यापक प्रभाव पड़ा। मिल की पुस्तक Elements of Political Economy(1821)' में उसके उदारवादी विचारों की झलक देखी जा सकती है।

जैसा कि ऊपर लिखा जा चुका है, इतिहास मिल का प्रिय विषय था। मगर उसकी प्रतिभा बहुमुखी थी। राजनीति और अर्थशास्त्र को लेकर उसने जो लेख लिखे उनकी भरपूर सराहना हुई। कई विश्वविद्यालयों ने उसको अपने पाठ्यक्रम में शामिल भी कर लिया था। पुस्तक में सामाजिक परिवर्तन की आवश्यकता, उसके लक्ष्य और समस्याओं की गंभीर विवेचना की गई थी। उसमें मिल ने दर्शाने का प्रयास किया है कि जनसंख्या वृद्धि विकास की प्रमुख समस्याओं में से एक है, क्योंकि जिस अनुपात में जनसंख्या वृद्धि होती है, उस अनुपात में संसाधनों का विकास नहीं हो पाता। उसने संसाधनों के अनियमित बंटवारे को भी विकास की समस्याओं से जोड़ा तथा माना कि किसी वस्तु की वास्तविक कीमत उसमें लगे श्रम के आधार पर आंकी जानी चाहिए, न कि उसके निर्माण में प्रयुक्त कच्चेमाल अथवा किसी और कारण से। पुस्तक में वस्तुतः डेविड रिकार्डो के विचारों को ही विस्तार दिया गया था। मिल ने उसमें राजनीति पर दिए गए अपने वक्तव्य संकलित किए गए हैं, जिनमें से एक लेख में जेम्स मिल ने जनसंख्या-वृद्धि और संसाधनों के अंतर्संबंध को स्पष्ट किया है। लेख में उसने एक स्थान पर लिखा है कि–

'सामान्यतः, यदि बाकी सब लक्षण अपरिवर्तित हों और पूंजी एवं जनसंख्या वृद्धि का अनुपात एकसमान रहे तो मजदूरी में प्रभावी वृद्धि भी

अपरिवर्तनीय बनी रहती हैं। यदि जनसंख्या की अपेक्षा पूंजीनिवेश में अध्कि वृद्धि हो तो मजदूर वर्ग की आय पर उसका सकारात्मक प्रभाव पड़ता है। परिणामत: औसत मजदूरी बढ़ने लगती है। यदि ये दोनों ही स्थितियां न हों और यदि पूंजीनिवेश अनुपात में वृद्धि होती है, तब मजदूरी में भी आनुपातिक वृद्धि होगी। लेकिन इसके विपरीत यदि जनसंख्या वृद्धि के सापेक्ष पूंजी अनुपात में गतिरोध है, यानी पूंजीनिवेश की मात्रा में ठहराव बना रहे तो निश्चित रूप से इसका असर मजदूरी पर पड़ेगा और वह तेजी से गिरने लगेगी।'

जेम्स मिल की कमी थी कि उसने अपने राजनीतिक दर्शन तथा आर्थिक विचारों में कभी समन्वय स्थापित करने की नहीं सोची। इतिहास में रुचि के कारण उसने 'ब्रिटिश भारत का इतिहास' लिखा, जिसमें उसने निहित पूर्वग्रहों के कारण औपनिवेशिक ब्रिटिश राजनीति का समर्थन किया। तथापि समानांतर रूप से वह अर्थशास्त्र एवं एक अर्थविज्ञानी के रूप में कार्य करता रहा। निश्चित रूप से इसके पीछे रिकार्डो के साथ मैत्री एवं बैंथम की प्रेरणाएं भी थीं। दरअसल मिल का अर्थदर्शन रिकार्डो तथा सामाजिक दर्शन बैंथम के चिंतन का ही विस्तार है। वस्तुत: मिल अर्थशास्त्र के क्षेत्र में रिकार्डो का अनुयायी था। किंतु यह मिल ही था जिसने रिकार्डो को उसकी अर्थशास्त्र की पहली पुस्तक के प्रकाशन के लिए प्रेरित किया था। यही नहीं, मिल के प्रयासों से ही रिकार्डो को ब्रिटिश संसद के लिए चुना गया था। बैंथम, जेम्स मिल तथा रिकार्डो की तिकड़ी के संबंध के बारे में माना जाता है कि–

'बैंथम मिल का नैतिक गुरु तथा मिल रिकार्डो का नैतिक गुरु था।'

आगे चलकर रिकार्डो ने भी 'सुखवाद' के सिद्धांत की अर्थशास्त्रीय दृष्टिकोण से व्याख्या की। मिल का मानना था कि सरकार को जनजीवन में हस्तक्षेप की नीति से बचना चाहिए। उसके बदले उसको जनता के बीच से ही संसाधन जुटाकर उनपर कार्य होना चाहिए। इसके ठीक विपरीत अपने राजनीतिक चिंतन में वह आर्थिक रूप से विपन्नों को सरकारी संरक्षण दिए जाने की नीति का समर्थक था और मानता था कि आर्थिक रूप से कमजोर वर्ग को संरक्षण प्रदान करने के लिए सरकार को अधिक से अधिक मदद करनी चाहिए।

जेम्स मिल ने भले ही कोई नया सिद्धांत नहीं गढ़ा हो, मगर बैंथम तथा रिकार्डो के विचारों को तार्किक ढंग से आगे ले जाने और उनकी आसान शब्दों में व्याख्या करने में उसका योगदान अविस्मरणीय है। उसका विश्वास था कि जब हम लोगों के समूह के साथ मिलकर कुछ करना चाहते हैं तो उस अवस्था

में समूह के हित उसके अधिकांश सदस्यों की अधिकतम संतुष्टि के बराबर होते हैं। दूसरे शब्दों में एक लोकतांत्रिक संगठन में समूह के हितों के साथ-साथ उसके सदस्यों के हित भी समानरूप से सधते चले जाते हैं। एक कल्याणकारी समूह ऐसा ही सपना अपने सदस्यों को लेकर देखता है कि उसके किसी भी कर्तव्य से अधिक-से-अधिक सदस्य इकाइयों का भला हो सके। इस तरह मिल ने सामूहिक जीवन की विशिष्टताओं का पक्ष लेकर उसके माध्यम से समतावादी समाज की संकल्पना का ही विस्तार किया था।

अपने ग्रंथ 'एलीमेंट्स ऑफ पॉलिटिकल इकॉनामी' में रिकार्डो के तुलनात्मक लाभों के सिद्धांत का उपयोग करते हुए उसने गणितीय उदाहरण जुटाने की अपेक्षा तर्क का सहारा लिया है। उसका मानना था कि श्रमिक के ग्रहण करने की मात्रा केवल उतनी होती है, जितनी वह पूंजी की उत्पादकता में बढ़ोत्तरी करता है। जबकि पूंजीपति का लाभ उसके द्वारा भूमि आदि संसाधनों में किए गए निवेश का आनुपातिक होता है। इन दोनों के अतिरिक्त भूस्वामियों का एक तीसरा भी वर्ग है जो केवल अपना हित देखता है और अपना ही स्वार्थ-साधन चाहता है। मिल की निगाह में असली मुनाफाखोर भी यही है।

मिल ने बैंथम के सुखवाद के विचार का समर्थन किया था, किंतु उसके बहाने वह अनिमित उपभोग को अनुमति देने के विरोध में था। हालांकि सर्वांगीण सामाजिक विकास के लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए उसने उपभोग को नियंत्रित करने की सलाह दी थी। अपनी पुस्तक 'राजनीतिक अर्थव्यवस्था के मूलतत्त्व' (Elements of Political Economy) में उपभोग को व्याख्यायित करते हुए मिल लिखता है कि–

'उपभोग के दो चेहरे होते हैं– उत्पादक एवं अनुत्पादक। उत्पादक उपभोग से उसका अभिप्राय ऐसे उपभोग से था जो मूलतः उत्पादक गतिविधियों को बढ़ावा देने के लिए निवेश के रूप में किया जाता है। इसमें वह सब आ जाता है जो किसी उद्यमी द्वारा, किसी वस्तु के उत्पादन को कार्यरूप देने के लिए किया जाता है। इसमें श्रम, मशीनरी, औजार, कच्चा माल और भवन, जहां पर उत्पादन कार्य संपन्न किया जाना है, यहां तक कि प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप में उत्पादकता को बढ़ाने में शामिल मवेशी भी सम्मिलित हैं। इनके अतिरिक्त कच्चे माल भी इनमें उत्पादक उपभोग का ही हिस्सा है।'

दूसरी ओर अनुत्पादक उपभोग में मजदूरी तथा अन्य ऐसे सभी उपभोग सम्मिलित हैं जिनका उत्पादकता से कोई संबंध नहीं है। साफ है कि पूंजीपति

द्वारा किया जाने वाला निवेश बहुआयामी होता है, उसके लिए उद्यमी को अधिक खतरा भी उठाना पड़ता है। इस कारण उसका लाभ भी अधिक, उसके द्वारा लगाई गई पूंजी के अनुपात में बढ़ता चला जाता है। मजदूर द्वारा किया गया निवेश जिसमें सामान्यतः उसका श्रम ही शामिल है, इसलिए अनुत्पादक वर्ग में सम्मिलित है, क्योंकि उसमें सिवाय श्रम कौशल के और कुछ नहीं है।

जेम्स मिल का मानना था कि वितरण तथा विनिमय माध्यमिक क्रियाएं हैं, जिनके द्वारा उत्पाद को उसके उपभोक्ताओं तक पहुँचाया जाता है। विनिमय अपने आप में लक्ष्य नहीं है, उसका कर्तव्य उत्पाद-विशेष को, समय रहते उपभोक्ता को उपलब्ध पहुँचाना है। ताकि सतत उपभोग के द्वारा वह अपनी मांग को बनाए रख सके। उपभोक्ता को उत्पाद का सीधा संबंध उसके उपभोग से होता है। कोई भी व्यक्ति किसी वस्तु का निर्माण या अर्जन इसलिए करता है, क्योंकि वह उसकी कामना करता है। जैसे ही वस्तु विशेष के प्रति उसकी कामनाएं तृप्त हो जाती हैं, फिर उस वस्तु के निर्माण का उसके लिए कोई अर्थ नहीं रह जाता। बावजूद इसके यदि कोई व्यक्ति अपनी अपेक्षा से अधिक वस्तु का उत्पादन करने में सफल है और वैसी कामना भी रखता है, तो इसका सीधा-सा अभिप्राय है कि वह कुछ अन्य वस्तुओं की कामना करता हैं जिन्हें वह अपने उत्पाद के बदले प्राप्त करना चाहता है। यदि वह किसी ऐसी वस्तु का उत्पादन करता है जो उसकी निजी कामनाओं से बाहर है अथवा जिसकी तात्कालिक आवश्यकता उसको अपेक्षाकृत कम है, तो इसका आशय होगा कि वह ऐच्छिक वस्तु की अपेक्षा उस वस्तु का उत्पादन एवं विपणन अधिक सफलतापूर्वक कर सकता है।

जेम्स मिल की पुस्तक 'राजनीतिक अर्थव्यवस्था के मूलतत्त्व' एक तरह से रिकार्डो की विचारधारा का ही विस्तार थी। इस पुस्तक में मिल ने जहां एक ओर बैंथम के सुखवाद की नई व्याख्या करते हुए उसे लोकप्रिय बनाने में सफलता प्राप्त ही, वहीं रिकार्डो की उत्पादकता संबंधी विचारधारा को भी आगे बढ़ाने का काम किया। यह पुस्तक एक तरह से इन दोनों के सिद्धांतों का ही प्रस्तुतीकरण है। यह बताना भी शायद अप्रासंगिक न हो कि जेम्स मिल व्यक्तिगत रूप से बैंथम के अपेक्षाकृत अधिक निकट था। मिल और उसका परिवार वर्षों तक बैंथम के किरायेदार रह चुके थे। यही नहीं बैंथम ने जेम्स मिल के पुत्र जान स्टुअर्ट मिल की शिक्षा का भी प्रबंध किया था।

बैंथम की विचारधारा से प्रभावित होकर मिल ने 'वेस्टमिनिस्टिर रिव्यू' नामक अंग्रेजी पत्रिका में कई लेख लिखे। मिल का सबसे मौलिक काम लोकतंत्र तथा नागरिक अधिकारों को लेकर लिखे गए उसके लेखों में देखने को मिलता है। उसका मानना था कि नागरिकों को राजनीतिक गतिविधियों में अधिक से अधिक हिस्सा लेना चाहिए, ताकि उनमें अपने अधिकारों को लेकर अधिक जागरूकता आए। 1820 में लिखे गए अपने एक लेख में मिल ने नागरिक अधिकारों का पक्ष लेते हुए उन्हें न केवल प्राकृतिक अधिकारों के निकट बताया, बल्कि उल्लेख किया कि मानवमात्र के कल्याण तथा उससे अधिकतम सुख पहुँचाने के लिए भी लोकतंत्र एवं जनआधिकारिता अनिवार्य है।

यह बात भी ध्यान में रखने की है कि मिल आर्थिक मामलों में सरकार के कम से कम दखल का पक्षधर था। शिक्षा के प्रसार-प्रसार की अनिवार्यता को लेकर लिखे गए अपने लेखों में मिल ने शिक्षा के प्रचार-प्रसार को सरकार के अतिमहत्त्वपूर्ण दायित्व के रूप में स्वीकार किया। वह शिक्षा को बिना किसी भेदभाव के सभी के लिए सुलभ बनाना चाहता था। वॉल्स के अनुसार मिल ने एक यादगार और विशिष्ट लेख लिखा था, जिसमें उसने शिक्षा पर जोर देते हुए लिखा था कि–

'शिक्षा केवल पादरियों के लिए नहीं, बल्कि सभी के लिए पूरी तरह सुलभ होनी चाहिए।'

जनसंख्या के सवाल पर भी उसके विचार बड़े स्पष्ट थे। उसका मानना था कि विकास में नैरंतर्य बनाए रखने के लिए जनसंख्या के साथ संसाधनों में आनुपातिक वृद्धि भी अनिवार्य है, अन्यथा यह लोगों की आय पर नकारात्मक असर डालती है। संक्षेप में हम कह सकते हैं कि जेम्स मिल ने अपने विचारों को बड़ी ईमानदारी से अभिव्यक्त किया है। वह राजनीति और अर्थव्यवस्था के कल्याणकारी रूप का समर्थक था। उसने अनावश्यक कराधान के लिए सरकार की आलोचना की है।

मिल के अनुसार सरकार को चाहिए कि वह कराधान, विशेषकर भूमि और श्रमसंबधी नियम बनाते समय, जनसामान्य की कठिनाइयों और क्षमताओं का ध्यान रखे। इस तरह उसने कल्याणकारी अर्थनीति का समर्थन किया है। मिल का सारा लेखन इसी मान्यता के लिए समर्पित है। उसने शिक्षा, लोकतंत्र, उद्योगनीति, जनअधिकारिता को आगे ले जाने का महत्त्वपूर्ण दायित्व वहन किया

था। इन्हीं कारणों से मिल की गिनती अपने समय के सबसे मेधावी एवं मौलिक विचारकों में होती है।

जेम्स मिल के विचारों को आगे चलकर उसके पुत्र जॉन स्टुअर्ट मिल ने विस्तार दिया। हालांकि उसके आलोचकों में यह मानने वाले भी कम नहीं हैं, जिनके अनुसार मिल ने अपनी ओर से कोई नया सिद्धांत प्रस्तुत नहीं किया। उसका समस्त चिंतन बैंथम और रिकार्डो की विचारों का ही विस्तार है। यह भी मिल की प्रतिभा का ही परिणाम था का कि एक बेहद साधारण लोगों के बीच से उठकर उसने इंग्लैड की तात्कालिक राजनीति और बुद्धिजीवियों में अपने लिए सम्मानित स्थान बनाने में सफलता प्राप्त की थी।

जेएस मिल और उनके राजनीतिक विचार

जॉन स्टुअर्ट मिल को व्यक्तिवाद और स्वतंत्रता का महान् उन्नायक माना जाता है। उदारवादी चिंतन की परंपरा में उसका सबसे बडा योगदान यह था कि उसने अपने समय के अनुरूप स्वतंत्रता की संकल्पना को बदल दिया।

उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य में उपयोगितावादी सुधारों के फलस्वरूप इंग्लैंड में प्रशासनिक गतिविधियों का क्षेत्र बहुत बढ़ गया था। बेंथम और दूसरे उपयोगितावादी यह मानते थे कि 'अधिकतम लोगों के अधिकतम सुख' की सिद्धि के लिए राज्य को व्यक्तियों की गतिविधि में कम-से-कम हस्तक्षेप करना चाहिए।

इससे एक ओर बाजार-अर्थव्यवस्था का विस्तार हो रहा था, और दूसरी ओर राज्य का कार्यक्षेत्र सिमटता चला जा रहा था। ऐसी हालत में जे.एस. मिल ने उपयोगितावादियों की इस मान्यता में संशोधन करके लोक-कल्याण को बढ़ावा देने के लिए राज्य के कार्यक्षेत्र के विस्तार का समर्थन किया।

स्वतंत्रता की संकल्पना

जे. एस. मिल ने स्वतंत्रता के बारे में अपनी संकल्पना अपने प्रसिद्ध निबंध 'On Liberty-1859' के अंतर्गत प्रस्तुत की। जी.एम. सेबाइन के अनुसार, इस निबंध के अंतर्गत मिल ने ऐसे लोकमत के निर्माण पर बल दिया है जो सचमुच सहनशील हो, जो मत-मतांतर को महत्व देता हो, और जो मानवीय ज्ञान को आगे बढ़ाने के लिए नए विचारों का स्वागत करता हो।

इसे बढ़ावा देने के लिए ही उसने व्यक्तिवाद का प्रबल समर्थन किया। मिल के अनुसार, मानव व्यक्तित्त्व के विकास के लिए व्यक्तिगत स्वतंत्रता सर्वथा आवश्यक है।

मिल के विचार से, व्यक्ति के कार्य दो प्रकार के होते हैं–

(1) 'आत्मपरक' कार्य, जिनका सरकार स्वयं कार्य करने वाले से होता है- दूसरों पर उनका कोई प्रभाव नहीं पड़ता, और

(2) 'अन्यपरक कार्य', जिनका समाज पर सीधा प्रभाव पड़ता है।

मिल ने तर्क दिया कि व्यक्ति के आत्मपरक कार्यों में राज्य की ओर से कोई हस्तक्षेप नहीं होना चाहिए और उसके अन्यपरक कार्यों में केवल उन्हीं कार्यों पर रोक लगाई जानी चाहिए जो दूसरों को हानि पहुँचाते हों, और यह बात प्रमाणित की जा सकती हो।

परंतु कभी-कभी ऐसी परिस्थितियाँ भी पैदा हो सकती है जब व्यक्ति के आत्मपरक कार्यों में हस्तक्षेप जरूरी हो जाए। उदाहरण के लिए यदि कोई व्यक्ति ऐसा पुल पार कर रहा हो जो हमारी जानकारी के अनुसार असुरक्षित हो, परंतु उस व्यक्ति को यह बात मालूम न हो तो हम उसे आगे बढ़ने से रोक दें-यही उचित होगा।

स्वतंत्रता का अर्थ है, वह कार्य करना जिसे कोई व्यक्ति करना चाहता है, और उसे करना वह अपने लिए उचित समझता है। प्रस्तुत उदाहरण के अंतर्गत वह व्यक्ति नदी पार करना चाहता है, परंतु नदी में गिरना तो नहीं चाहता। वह यह नहीं जानता कि पुल पर चढ़ना खतरे से खाली नहीं है।

अब, सुरक्षित रहने की इच्छा नदी पार करने की इच्छा से अधिक महत्वपूर्ण है। ऐसी हालत में उसे आगे बढ़ने से रोककर हम उसकी इच्छापूर्ति में बाधा नहीं डालते, बल्कि उसकी अधिक महत्वपूर्ण इच्छा की पूर्ति के हित में कम महत्वपूर्ण इच्छा पर रोक लगाते हैं।

स्वतंत्रता की परिभाषा में इस संशोधन का अर्थ यह है कि व्यक्ति के अपने हित को सुरक्षित रखने के लिए राज्य उसके आत्मपरक कार्यों में भी हस्तक्षेप कर सकता है। मिल के इस तर्क में टी.एच। ग्रीन (1836-82) के विचारों का पूर्वाभास मिलता है।

स्वतंत्रता के महत्व को रेखांकित करते हुए मिल ने विशेष रूप से तीन तरह की स्वतंत्रता पर बल दिया है–

इसमें विचार और अनुभूति की स्वतंत्रता का विशेष स्थान है। मनुष्य को सभी विषयों पर–चाहे वे व्यावहारिक जीवन से जुड़े हों या चिंतन–मनन के क्षेत्र से, चाहे वे वैज्ञानिक हों, नैतिक या धर्मशास्त्रीय हों–कोई भी विचार या भावना रखने की पूर्ण स्वतंत्रता होनी चाहिए।

विचार की अभिव्यक्ति और प्रकाशन की स्वतंत्रता भिन्न सिद्धांत पर आधारित है क्योंकि यह व्यक्ति के व्यवहार का ऐसा हिस्सा है जो दूसरों को प्रभावित कर सकता है। परंतु यह विचार की स्वतंत्रता की तरह महत्वपूर्ण है। यदि विचार को अभिव्यक्ति का अवसर नहीं मिलेगा तो विचार की स्वतंत्रता निरर्थक हो जाएगी।

लोकतंत्र और सामाजिक प्रगति से जुड़ी हुई समस्या पर विचार करते हुए मिल ने 'अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता' के महत्व पर विशेष बल दिया है। मिल यह दिखाना चाहता था कि लोकतंत्र की स्थापना से व्यक्ति की स्वतंत्रता की समस्या हल नहीं हो जाती बल्कि उसके लिए नए–नए खतरे पैदा हो जाते हैं।

वह फ्रांसीसी लेखक अलेक्सी द ताकवील के इस विचार से सहमत था कि जनसाधारण बंधे–बंधाए तरीकों और बने–बनाये रास्तों पर चलना पसंद करते हैं– उन्हें नए विचारों और प्रयोगों में कोई दिलचस्पी नहीं होती। मिल को डर था कि जनसाधारण के हाथों में शक्ति आ जाने पर वे लीक से हटकर चलने वालों को आगे नहीं बढ़ने देंगे, और संपूर्ण समाज को औसत दर्जे के तौर–तरीके और विचार अपनाने के लिए विवश कर देंगे।

इससे सामाजिक अनुरूपता, अर्थात् सभी व्यक्तियों को एक ही सांचे में ढालने की प्रवृत्ति को बढ़ावा मिलेगा, नए तौर–तरीकों और विचारों को हतोत्साहित किया जाएगा।

अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता को उचित ठहराने के लिए मिल ने उपयोगितावादी और नैतिकतावादी दोनों तरह के तर्क का सहारा लिया है। उपयोगितावादी तर्क के अनुसार, विवेकसम्मत ज्ञान सामाजिक कल्याण का आधार है। दूसरी ओर, नैतिकतावादी तर्क के अनुसार, वैयक्तिक आत्म–निर्णय मनुष्य का मूल अधिकार है जो उसमें नैतिक दायित्व की भावना विकसित करने के लिए अनिवार्य है।

यदि व्यक्ति को परस्पर विरोधी विचारों में से अपनी अंतरात्मा के अनुसार चयन करने की स्वतंत्रता न हो तो एक नैतिक और विवेकशील प्राणी के नाते वह अपनी उपयुक्तता गरिमा से वंचित हो जाएगा। अतः समाज में परस्पर विरोधी विचारों की अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता आवश्यक सिद्ध होती है।

मिल ने तर्क दिया कि अल्पमत को यहाँ तक कि अकेले व्यक्ति को भी-अपनी राय प्रकट करने का उतना ही अधिकार होना चाहिए जितना बहुमत को होता है। किसी भी मत का दमन करना सर्वथा अनुचित है, चाहे वह सच हो या झूठ हो। कोई बात इसलिए सच नहीं हो जाती कि उसे बहुत ज्यादा लोग मानते हैं, और इसलिए झूठ नहीं हो जाती कि उसे बहुत कम लोग मानते हैं।

अत: सबसे पहले हर तरह के मत को प्रकट होने का अवसर मिलना चाहिए। यदि वह सच होगा तो उसका दमन करने से समाज सत्य के लाभ से वंचित हो जाएगा। यदि वह झूठ होगा तो उसका दमन करने से समाज सत्य के विस्तृत ज्ञान से वंचित हो जाएगा क्योंकि झूठ से टकराने के बाद सत्य अधिक स्पष्ट और प्रभावशाली रूप में सामने आता है।

यदि वह कुछ सच और कुछ झूठ होगा तो उसकी अभिव्यक्ति हो जाने पर हमें संपूर्ण सत्य को जानने और समझने में सहायता मिलेगी। इस तरह परस्पर-विरोधी मतों के मुक्त प्रचार-प्रसार से समाज को लाभ ही लाभ है।

अपनी अभिरुचियाँ विकसित करने और अपनी तरह का काम करने को स्वतंत्रता–

यह इसलिए जरूरी है ताकि मनुष्य अपने चरित्र के अनुरूप अपने जीवन की योजना बना सके। यदि दूसरों को उसका कोई काम मूर्खतापूर्ण, अस्वाभाविक या अनुचित लगता हो तो भी जब तक वह दूसरों को कोई हानि नहीं पहुँचाता, या वह स्वयं उसके लिए विनाशकारी न हो उसे वैसा करने की स्वतंत्रता होनी चाहिए।

मनुष्य को स्वयं जैसा अच्छा लगे वैसे जीकर कष्ट उठाने में जितना लाभ होगा, जैसा दूसरी को अच्छा लगे वैरने जीकर सुख पाने में उतना लाभ नहीं होगा।

किसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए संगठन बनाने की स्वतंत्रता–

शर्त यह है कि इससे किसी को भी क्षति न पहुँचाई जाए। संगठन बनाने वाले व्यक्ति वयस्क होने चाहिए ताकि वे सोच-समझ कर निर्णय करने में समर्थ हों। किसी को विवश करके या धोखा देकर किसी संगठन में सम्मिलित नहीं करना चाहिए।

मिल ने लिखा है कि जिस समाज में कुल मिलाकर इन स्वतंत्रताओं का सम्मान नहीं किया जाता, वह स्वतंत्र समाज नहीं हो सकता चाहे वहाँ कोई भी शासन-प्रणाली क्यों न अपनाई जाए, जिस समाज में ये स्वतंत्रताएं पूर्ण रूप से और बिना शर्त प्रदान नहीं की जातीं वह पूर्णत: स्वतंत्र समाज नहीं हो सकता।

जो मनुष्य बंधे-बंधाए तरीके से चलता है या केवल रीति-रिवाज का पालन करता है, वह अपने जीवन में चयन की क्षमता का प्रयोग नहीं करता। जो अपने जीवन की योजना का चयन दूसरों पर छोड़ देता है, उसे किसी विशेष क्षमता की जरूरत नहीं होती, वह तो बंदर की तरह दूसरों की नकल उतारता है। मनुष्य-जैसा जीवन जीने के लिए भिन्न-भिन्न लोगों को भिन्न-भिन्न ढंग से जीने देना चाहिए। अत: मिल की दृष्टि में विविधता का प्रसार स्वतंत्रता का स्वाभाविक लक्षण है।

मिल का विश्वास था कि आधुनिक औद्योगिक समाज में जब अनुदारवादी शक्तियाँ प्रबल हो जाएंगी, तब स्वतंत्रता के बारे में उसकी शिक्षाओं पर अवश्य ध्यान दिया जाएगा। मिल ने लिखा है कि औद्योगिक सभ्यता की प्रगति सब मनुष्यों के लिए एक-जैसी परिस्थितियाँ पैदा कर देती है जिससे उनके लिए भिन्न-भिन्न व्यक्तियों के रूप में जीना मुश्किल हो जाता है।

जो लोग सारे काम एक-जैसे करते हैं, वे एक ही तरह सोचने भी लगते हैं जिससे उनमें स्वयं सोचने की शक्ति कुंठित हो जाती है। मिल के इन विचारों में उस संकल्पना का पूर्वसंकेत मिलता है जिसे बीसवीं शताब्दी में जनपुंज समाज की संज्ञा दी गई है। यह स्थिति जनसंपर्क के साधनों की विलक्षण प्रगति का परिणाम है।

देखा जाए तो औद्योगिक समाज का दबाव सब जगह एकरूपता को बढ़ावा देता है और सबसे एकरूपता की मांग करता है। जो व्यक्ति इस एकरूपता को चुनौती देता है और रीति-रिवाज के आगे घुटने टेकने से इनकार कर देता है, वह स्वतंत्रता के सिद्धांत की बहुत बड़ी सेवा करता है। इस तरह के मौलिक विचार प्रस्तुत करके मिल ने औद्योगिक समाज के प्रति अत्यंत मानवीय और लोकतंत्रीय दृष्टिकोण का परिचय दिया है।

उपयोगितावाद का संशोधन

मिल ने बेंथम के उपयोगितावाद की इस मान्यता को तो स्वीकार किया कि राज्य का ध्येय 'अधिकतम लोगों के अधिकतम सुख' की सिद्धि करना है, परंतु उसने अपनी प्रसिद्ध कृति 'Utilitarianism-1863' के अंतर्गत उपयोगिता के मूल सिद्धांत में दो महत्वपूर्ण परिवर्तन कर दिए–

(1) बेंथम के अनुसार भिन्न-भिन्न प्रकार के सुखों में कोई गुणात्मक अंतर नहीं होता, उनमें केवल परिमाणात्मक अंतर होता है परंतु मिल ने तर्क दिया

कि भिन्न-भिन्न प्रकार के सुखों में गुणात्मक अंतर अवश्य होता है, और किसी सुख की गुणवत्ता उसके परिमाण से कम महत्वपूर्ण नहीं होती।

मनुष्य केवल भौतिक सुखों के पीछे नहीं दौड़ता बल्कि उसकी नैतिक, बौद्धिक और कलात्मक अभिरुचियों का विकास भी जरूरी है। जो सुख मनुष्य की उच्चतर क्षमताओं से प्राप्त किया जाता है, वह अन्य सुखों की तुलना में उत्तम है।

उच्च कोटि का सुख कम संतुष्टिदायक होने पर भी ग्राह्य है, निम्न कोटि का सुख अधिक संतुष्टिदायक होने पर भी त्याज्य है। मिल के शब्दों में, "एक संतुष्ट मूर्ख की तुलना में असंतुष्ट सुकरात होना कहीं अच्छा है।"

उपयोगिता के सिद्धांत में मिल का यह संशोधन मानवीय विकास के आदर्श से प्रेरित था, जो मनुष्य के बारे में बेंथम की संकीर्ण संकल्पना से भिन्न था। बेंथम ने मनुष्य को मिलने वाले सुख की कल्पना करते समय आत्मसम्मान की भावना और व्यक्तिगत गरिमा की भावना जैसे महत्वपूर्ण तत्त्वों की अनदेखी कर दी थी।

मिल ने इन भावनाओं का महत्व स्थापित करते हुए यह टिप्पणी की-"अपनी-अपनी उच्च क्षमताओं के विस्तृत प्रयोग के लिए एक-दूसरे को लगातार उत्तेजित करना सामाजिक सुख-समृद्धि का आवश्यक अंग है।"

स्वतंत्रता के सिद्धांत की व्याख्या करते हुए मिल ने यह स्वीकार किया कि वह समस्त नैतिक प्रश्नों की जांच के लिए 'उपयोगिता' को ही अंतिम मानदंड मानता है, परंतु उपयोगिता की यह संकल्पना बहुत व्यापक होनी चाहिए जो मनुष्य को प्रगतिशील प्राणी मानते हुए उसके स्थायी हितों की नींव पर टिकी हो। जाहिर है, मिल ने उपयोगितावाद की यह नई व्याख्या देकर उसके मूल रूप को ही बदल दिया।

(2) पुराने उपयोगितावादी स्वतंत्रता को महत्वपूर्ण तो मानते थे, परंतु उनके विचार से यह उपयोगितावाद का सार-तत्त्व नहीं था। मिल ने अपनी विचार- प्रणाली के अंतर्गत स्वतंत्रता को उपयोगिता का सार-तत्त्व बना दिया। उसने तर्क दिया कि सच्चा सुख केवल भौतिक संतुष्टि में निहित नहीं है, बल्कि वह चरित्र के विकास से प्राप्त होता है।

उच्च चरित्र वाला व्यक्ति ही उच्च कोटि के सुख को अनुभव कर सकता है। चरित्र के विकास के लिए व्यक्तिगत स्वतंत्रता सर्वथा आवश्यक है। स्वतंत्रता मनुष्य को नए-नए सुखों का पता लगाने और पाने में समर्थ बनाती है। यह अपने-आपमें इतना बड़ा सुख है जिसके आगे अन्य सब सुख तुच्छ हैं।

मिल के शब्दों में-"जिसने एक बार स्वतंत्रता का स्वाद चख लिया हो, वह उसे किसी कीमत पर भी छोड़ने को तैयार नहीं होगा।" यह बात ध्यान देने की है कि स्वतंत्रता की यह संकल्पना उपयोगिता के मूल सिद्धांत के साथ नहीं निभ सकती।

यदि प्रत्येक व्यक्ति को पूर्ण स्वतंत्रता प्रदान करके अपने-अपने ढंग से सुख को ढूंढने और पाने का अवसर दिया जाए तो ऐसी कोई सामान्य नीति निर्धारित करना कठिन हो जाएगा जिसमें 'अधिकतम लोगों का अधिकतम सुख' निहित हो।

दूसरे, यदि कोई ऐसी नीति बना दी जाए जो 'अधिकतम लोगों के अधिकतम सुख' की सिद्धि का दावा करती हो, तो उसे लागू करने पर कुछ लोगों की स्वतंत्रता को क्षति अवश्य पहुँचेगी, और मिल को ऐसी स्थिति स्वीकार नहीं होगी।

प्रतिनिधि शासन का औचित्य

स्वतंत्रता के प्रति इस गहरे लगाव के कारण ही मिल ने 'बहुमत के शासन' के सिद्धांत को स्वीकार नहीं किया, और उस की जगह 'प्रतिनिधि शासन' का समर्थन किया। मिल का विचार था कि लोकतंत्र को सामाजिक प्रगति का साधन बनाने के लिए निर्वाचकमंडल का शिक्षित होना जरूरी है।

अत: जब तक संपूर्ण निर्वाचकमंडल शिक्षित नहीं हो जाता, तब तक सार्वजनिक शक्ति अपेक्षाकृत अनुभवी और सुशिक्षित विशिष्टवर्ग को सौंपी जा सकती है। इस उदारमना अल्पमत की छत्रछाया में जनसाधारण धीरे-धीरे सार्थक नागरिकता के गुण अर्जित कर लेंगे।

फिर, यह विशिष्टवर्ग सार्वजनिक शिक्षा का समुचित प्रबंध भी करेगा। जनसाधारण में शिक्षा के विस्तार के साथ-साथ उनके राजनीतिक उत्तरदायित्व भी बढ़ते जाएंगे। अंतत: एक ऐसे स्वतंत्र समाज का उदय होगा जिसमें समस्त स्त्री-पुरुष शासन के अधिकारों और कर्तव्यों में बराबर के हिस्सेदार होंगे।

मिल ने अपनी प्रसिद्ध कृति 'Considerations of Representative Government -1861' के अंतर्गत प्रतिनिधि शासन के सिद्धांत का समर्थन करते हुए मताधिकार के क्रमिक विस्तार की योजना प्रस्तुत की है। यह बात महत्वपूर्ण है कि मिल स्त्री-मताधिकार के आरंभिक समर्थकों में सम्मिलित था। इससे लोकतंत्र के प्रति उसकी आस्था का संकेत मिलता है।

मिल का विश्वास था कि आधुनिक लोकतंत्र के लिए केवल प्रतिनिधि शासन की प्रणाली ही उपयुक्त होगी। प्राचीन यूनानी नगर-राज्यों में प्रचलित प्रत्यक्ष लोकतंत्र को आधुनिक राज्यों में लागू करना संभव नहीं है, आधुनिक निर्वाचकमंडल अपने चुने हुए प्रतिनिधियों के माध्यम से ही कार्य करते हैं। ये प्रतिनिधि योग्यता और अनुभव की दृष्टि से साधारणत: औसत दर्जे से बढ़कर होते हैं, तर्कसंगत बातें समझने और समझाने में इनकी क्षमता जनसाधारण से ऊँची होती है।

विधानमंडल में अल्पमत के समुचित प्रतिनिधित्व के लिए मिल ने आनुपातिक प्रतिनिधित्व और बहुल मतदान की प्रणाली का समर्थन किया है।

कल्याणकारी राज्य का समर्थन

जॉन स्टुअर्ट मिल पहले ऐसे प्रमुख उदारवादी थे जिसने शुरू-शुरू में अहस्तक्षेप की नीति और व्यक्तिवाद का समर्थन किया, परंतु सामाजिक-आर्थिक यथार्थ पर विस्तृत विचार करने के बाद उसने इसका संशोधन कर दिया। मिल ने राजनीतिक क्षेत्र में सांविधानिक और प्रतिनिधि शासन का समर्थन किया परंतु आर्थिक क्षेत्र में उसने कल्याणकारी राज्य के विचार को बढ़ावा दिया।

व्यक्ति की आत्मपरक और अन्यपरक गतिविधियों में अंतर करते हुए मिल ने तर्क दिया कि व्यक्ति की जो गतिविधियाँ दूसरों की स्वतंत्रता के रास्ते में रुकावट डालती है, उनके मामले में राज्य की ओर से विनियमन जरूरी हो जाता है। इस तरह उदारवादी चिंतन के क्षेत्र में बाजार-अर्थव्यवस्था के विनियमन के सिद्धांत को मान्यता मिल गई।

अपनी प्रसिद्ध कृति 'Principles of Political Economy -1848' प्रथम संस्करण के अंतर्गत मिल ने समाजवाद की आलोचना की थी परंतु इसके अंतिम संस्करण (1866) में उन्होंने अपना दृष्टिकोण बदल दिया और संपत्ति के अधिकार को सीमित करने की वकालत की।

उसने भूसंपत्ति के अधिकार पर विशेष रूप से प्रहार किया क्योंकि भूमि को किसी मनुष्य ने नहीं बनाया और पूंजीवादी व्यवस्था के अंतर्गत भूस्वामी के किसी विशेष प्रयत्न के बिना उसकी आय दिन-दूनी रात-चौगुनी बढ़ती जाती है। मिल ने तर्क दिया कि इस अतिरिक्त आय पर कर (Tax) लगाकर उसका उपयोग श्रमिकों के कल्याण के लिए करना चाहिए क्योंकि उन्हीं के कठिन परिश्रम के कारण भूस्वामियों की आय में भारी वृद्धि होती है।

उदारवाद की परंपरा में मिल पहला ऐसा विचारक था जिसने पूंजीवाद के बढ़ते हुए प्रभाव के संदर्भ में व्यक्ति और राज्य के परस्पर संबंध पर विचार किया और व्यक्ति की स्वतंत्रता की रक्षा के लिए राज्य के हस्तक्षेप को उचित ठहराया। उसने यह स्वीकार किया कि जब आर्थिक क्षेत्र में विस्तृत विषमता पाई जाती है तब राज्य की ओर से 'अहस्तक्षेप' की नीति सामाजिक सुख को बढ़ावा नहीं दे सकती। जब भूमि, उद्योग-धंधों और ज्ञान-विज्ञान के साधनों पर इने-गिने लोगों का एकाधिकार हो, तब राज्य को तटस्थ नहीं रहना चाहिए बल्कि विशाल निर्धन वर्ग के कल्याण की दिशा में सकारात्मक भूमिका निभानी चाहिए।

इसके लिए मिल के मुख्य सुझाव हैं- अनिवार्य शिक्षा की व्यवस्था, उत्तराधिकार का परिसीमन, एकाधिकार पर राज्य का नियंत्रण, भूसंपति की सीमाएं निर्धारित करना, और ऐसे श्रम कानून बनाना जिनके अनुसार काम के घंटे निश्चित कर दिए जाएँ और कारखानों में कच्ची उम्र के बच्चों से मजदूरी न कराई जा सके, इत्यादि। इस तरह मिल ने जहाँ राजनीतिक क्षेत्र में विचार और अभिव्यक्ति की पूर्ण स्वतंत्रता तथा सांविधानिक शासन प्रणाली की पैरवी की, वहीं आर्थिक क्षेत्र में उसने उदारवादी मूल्यों के साथ समाजवादी मूल्यों का मणि-कांचन संयोग स्थापित करके उदारवाद को एक नई दिशा दी।

स्त्रियों की पराधीनता पर प्रहार

समकालीन सामाजिक चिंतन के अंतर्गत नारीवादी सिद्धांत के समर्थक जो तर्क दे रहे हैं, उनकी सबसे पहली, सशक्त अभिव्यक्ति मिल के चिंतन में मिलती है। मिल ने अपनी चर्चित कृति 'Subjection of Women -1869' के अंतर्गत यह मुद्दा उठाया कि आधी मानवता-अर्थात् स्त्री जाति को चिरकाल से दूसरी आधी मानवता-अर्थात् पुरुष जाति की पराधीनता में क्यों रखा गया है?

मिल ने यह प्रश्न उठाया कि यह पराधीनता चाहे कानून के माध्यम से स्थापित की गई हो या रीति-रिवाज के माध्यम से-इसे उपयोगितावाद के आधार पर कही तक उचित ठहराया जा सकता है?

इस प्रश्न के उत्तर में मिल ने पूरी दृढ़ता के साथ यह मान्यता रखी है कि स्त्रियों की पराधीनता को किसी भी आधार पर उचित नहीं ठहराया जा सकता। यह सच है कि जीव वैज्ञानिक दृष्टि से स्त्री और पुरुष की बनावट में अंतर पाया जाता है, और बहुत छोटे शिशुओं की देखरेख करना भी स्त्रियों का स्वाभाविक कृत्य है, परंतु इससे यह सिद्ध नहीं होता कि उन्हें मताधिकार से वंचित रखना

चाहिए, उन्हें ऊँचे व्यवसायों से बाहर रखना चाहिए या उन्हें उन्नति के उन सब अवसरों से दूर रखना चाहिए जो ऐतिहासिक दृष्टि से पुरुषों को सुलभ रहे हैं।

मिल ने स्त्री-पुरुष की समानता के पक्ष में जो तर्क दिए हैं, वे अपने-आप में बेजोड़ हैं। मिल ने तर्क दिया कि पुरुष के प्रति स्त्री की अधीनता न केवल अपने-आप में अनुचित है, बल्कि यह मानव जाति की उन्नति के मार्ग की मुख्य बाधा भी है। अतः सामाजिक प्रगति को बढावा देने के लिए स्त्रियों की पराधीनता को समाप्त करके स्त्री-पुरुष की पूर्ण समानता स्थापित कर देनी चाहिए। ऐसा न हो कि एक पक्ष को शक्ति एवं विशेषाधिकार प्राप्त हों, और दूसरे पक्ष को अशक्त एवं अयोग्य बना दिया जाए।

मिल ने लिखा है कि स्त्रियों की पराधीनता ऐसी विश्वजनीन प्रथा का रूप धारण कर चुकी है कि जब कहीं स्त्री के वर्चस्व का कोई संकेत मिलता है तो वह अस्वाभाविक प्रतीत होता है। दुनिया के दूर-दराज के हिस्सों में जब लोगों को यह बताया जाता है कि इंग्लैंड में महारानी का शासन है तो उन्हें अत्यंत आश्चर्य होता है, और वे इस बात पर सहज विश्वास नहीं कर पाते।

इधर इंग्लैंड के लोगों को महारानी के शासन में तो कोई विचित्र बात दिखाई नहीं देती, परंतु वे यह नहीं सोच पाते कि स्त्रियाँ सैनिक और संसद-सदस्य भी हो सकती हैं! दूसरी ओर, यूनान और अन्य प्राचीन देशों के लोगों को यह विचार उतना अस्वाभाविक प्रतीत नहीं होता था क्योंकि स्पार्टा में स्त्रियों को कुशल सैनिक बनने की शिक्षा दी जाती थी! वैसे कानून की दृष्टि से वे भी पुरुषों के अधीन थीं।

स्पार्टा की स्त्रियों के उदाहरण से प्रेरित होकर ही प्लेटो को स्त्री-पुरुष की समान क्षमताओं में विश्वास हो गया था और उसने अपने चिंतन के अंतर्गत स्त्री-पुरुष की सामाजिक और राजनीतिक समानता का समर्थन किया था। इन सब तर्कों के आधार पर मिल ने तत्कालीन परिस्थितियों में स्त्रियों को मताधिकार प्रदान करने के प्रस्ताव की शानदार पैरवी की।

निष्कर्ष–

मिल ने व्यक्ति की स्वतंत्रता को सर्वोच्च महत्व देते हुए यह मत रखा कि राज्य को साधारणतः व्यक्ति की गतिविधियों में न तो हस्तक्षेप करना चाहिए, न उन पर कोई प्रतिबंध लगाना चाहिए परंतु यदि यह सिद्ध किया जा सके कि ऐसा हस्तक्षेप समाज के हित में जरूरी है तो उसे उचित ठहरा सकते हैं।

ऐसी स्थिति को स्पष्ट करने के लिए मिल ने व्यक्ति की 'आत्मपरक' और 'अन्यपरक' गतिविधियों में अंतर किया, और यह स्वीकार किया कि यदि व्यक्ति की अन्यपरक गतिविधियों से समाज को हानि हो सकती हो तो उन पर प्रतिबंध लगाना उचित होगा।

वैसे 'आत्मपरक' और 'अन्यपरक' गतिविधियों के बीच सीमा-रेखा खींचना बहुत कठिन है, और इस आधार पर अर्नेस्ट बार्कर ने मिल की आलोचना की है परंतु यह सीमा-रेखा कहाँ खींची जाए- इस बात का उतना महत्व नहीं।

महत्व इस बात का है कि मिल ने ऐसे क्षेत्र की ओर संकेत किया जहाँ राज्य को तटस्थ नहीं रहना चाहिए बल्कि समाज के हित को ध्यान में रखते हुए सकारात्मक भूमिका निभानी चाहिए। इसी विचार ने उदारवादी चिंतन-परंपरा के अंतर्गत नकारात्मक राज्य को सकारात्मक राज्य में बदल दिया, और कल्याणकारी राज्य के विकास का रास्ता खोल दिया।

मिल ने व्यक्ति की स्वतंत्रता का इतना भव्य विश्लेषण प्रस्तुत किया है कि-कम-से-कम उदारवादी चिंतन के अंतर्गत-उसकी दूसरी मिसाल मिलना मुश्किल है। उसका यह तर्क अत्यंत महत्वपूर्ण है कि व्यक्ति की स्वतंत्रता का दमन करके कोई राज्य अपना गौरव बढ़ाने की आशा नहीं कर सकता। उसने स्वतंत्रता के सिद्धांत को उपयोगितावाद के साथ जोड़कर इसे बिल्कुल नए रंग में ढ़ाल दिया। मिल को लोकतंत्र की प्रचलित अवधारणा में विशेष आस्था नहीं थी। उसने यह संकेत किया कि ऐसा लोकतंत्र राजनीतिक दृष्टि से समानता को समस्या को सुलझाकर स्वतंत्रता की समस्या को उलझा देता है। उसने 'अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता' को सबरने आगे रखकर लोकतंत्र की इस त्रुटि को दूर करने का प्रयत्न किया। उसने लोकतंत्र के प्रचलित ढांचे को सुधारने के लिए ठोस सुझाव दिए। सबसे बढ़कर, उसने शासन की संस्थाओं में अल्पमत के समुचित प्रतिनिधित्व पर बल दिया।

मिल ने अपने युग में न केवल मताधिकार के विस्तार की बात उठाई बल्कि स्त्रियों की पराधीनता पर प्रबल प्रहार किया। इस तरह उसने न केवल स्त्री जाति की गरिमा को मान्यता दी बल्कि समाज को भी उनकी प्रतिभा से लाभान्वित होने का रास्ता दिखाया। इस तरह आधुनिक राजनीति-सिद्धांत की परपरा में मिल का योगदान अविस्मरणीय रहेगा।

7

जेरेमी बेन्थम

जेरेमी बेन्थम (15 फरवरी 1748–6 जून 1832) इंग्लैण्ड का न्यायविद, दार्शनिक तथा विधिक व सामाजिक सुधारक था। वह उपयोगितावाद का कट्टर समर्थक था। वह प्राकृतिक विधि तथा प्राकृतिक अधिकार के सिद्धान्तों का कट्टर विरोधी था।

सन् 1776 में उसकी 'शासन पर स्फुट विचार' शीर्षक पुस्तक प्रकाशित हुई। इसमें उसने यह मत व्यक्त किया कि किसी भी कानून की उपयोगिता की कसौटी यह है कि जिन लोगों से उसका संबंध हो, उनके आनंद, हित और सुख की अधिक से अधिक वृद्धि वह करे। उसकी दूसरी पुस्तक श्आचार और विधान के सिद्धांत' 1789 में निकली जिसमें उसके उपयोगितावाद का सार मर्म सन्निहित है। उसने इस बात पर बल दिया कि 'अधिकतम व्यक्तियों का अधिकतम सुख' ही प्रत्येक विधान का लक्ष्य होना चाहिए। 'उपयोगिता' का सिद्धांत वह अर्थशास्त्र में भी लागू करना चाहता था। उसका विचार था कि प्रत्येक व्यक्ति को, किसी भी तरह के प्रतिबंध के बिना, अपना हित संपन्न करने की स्वतंत्रता रहनी चाहिए। सूदखोरी के समर्थन में उसने एक पुस्तक 'डिफेंस ऑव यूजरी' सन् 1787 में लिखी थी। उसने गरीबों संबंधी कानून (पूअर लॉं) में सुधार करने के लिए जो सुझाव दिए, उन्हीं के आधार पर सन् 1834 में उसमें कई संशोधन किए गए। पार्लियामेंट में सुधार कराने के संबंध में भी उसने एक पुस्तक लिखी थी (1817)। इसमें उसने सुझाव दिया था कि मतदान का

अधिकार प्रत्येक वयस्क व्यक्ति को मिलना चाहिए और चुनाव प्रति वर्ष किया जाना चाहिए। उसने बंदीगृहों के सुधार पर भी बल दिया। और 1811 में 'दंड और पुरस्कार' शीर्षक एक पुस्तक लिखी।

जेरेमी बेंथम के बारे में

उपयोगितावाद के प्रवर्तक जेरेमी बेंथम का जन्म 1748 ईस्वी में इंग्लैंड के एक संपन्न वकील घराने में हुआ था, बेंथम बचपन से ही असाधारण प्रतिभाशाली था और अपनी इस प्रतिभा के बल पर उसने 15 वर्ष की आयु में ऑक्सफोर्ड विश्वविद्यालय से स्नातक परीक्षा पास कर ली बेंथम अपने असाधारण योग्यता के कारण ही अपने गुरुओं के और अयोग्य तथा साथियों को मूर्ख समझता था, स्नातक उपाधि प्राप्तत करने के बाद उसने 'लिकंस इन' मैं कानून का अध्ययन करने के लिए प्रवेश लिया 1772 में उसने वकालत करना प्रारंभ किया लेकिन थोड़े-थोड़े समय के बाद ही उसने इस व्यवसाय को छोड़ दिया। अपने युग के इस बौद्धिक आचार्यय को थोड़े समय तक वकालत करने परतत्कालीन कानून व्यवस्था के दोषों का ज्ञान हो गया और वकालत करने के स्थान पर अपने जीवन का भी कानूनी पद्धति का संशोधन करना निश्चित किया।

1772 में वह कानूनी पद्धति के संशोधन कार्य में लग गया और 1776 ई. में उसकी प्रथम पुस्तक 'शासन पर कुछ विचार' प्रकाशित हुई, इस पुस्तक में उस समय के विगत विधि शास्त्री ब्लैक स्टोन की आलोचना कर के कानून के क्षेत्र में हलचल मचा दी, बेंथम प्रतिदिन नियमित रूप से लिखने वाला और साधारण व्यक्ति था और ज्ञान विज्ञान के सभी क्षेत्रों में उसकी निवाद गती थी, लेकिन उसका लेखन कार्य अत्यधिक अव्यवस्थित था। 1788 ई. में उसकी भेंट जेनेवा वासी कुमारी dumont से हुई जिसने उसकी रचनाओं का सभी जगत की फ्रेंच भाषा में अनुवाद किया। इससे फ्रेंच भाषा भाषी प्रदेशों में उसकी ख्याति बढ़ी 1821 में उसे 28 वर्षीय बोरिंग नामक भक्त नवयुवक के सहयोग मिला जिसने उसके कुछ ग्रंथों को एक 11 खंडों में प्रकाशित किया, किंतु उसके लेखों का एक बड़ा भाग अब तक प्रकाशित है। वृद्धा अवस्था तक बेंथम कितना अधिक सक्रियता इसका प्रमाण यह है कि अपने उग्र विचारों का प्रचार करने के लिए उसने 70 वर्ष की आयु वेस्ट मिनिस्टर रिव्यू नामक पत्र निकाला और 89 वर्ष की अवस्था में उसने लंदन विश्वविद्यालय के मूल्य यूनिवर्सिटी कॉलेज को इस उद्देश्य स्थापित किया कि या ऑक्सफोर्ड और कैंब्रिज के दूषित

वातावरण से मुक्त उसने उपयोगितावाद के साथ-साथ सुधारवादी नींव मजबूत की 1832 में इस महान विचारक की मृत्यु हो गई।

जैरेमी बैथमः सुखवादी विचारक

सुखवादी विचारधारा का प्रवर्तक दार्शनिक, मौलिक विचारक तथा उपयोगितावाद का समर्थक राजनीतिज्ञ था। कानून का प्रतिभाशाली विद्यार्थी होते हुए भी उसने कभी वकालत नहीं की। न्यायालय में व्याप्त भ्रष्टाचार को देख उसका मन वहां से ऐसा उचटा कि फिर कभी उस ओर झांका तक नहीं। सिर्फ अपनी कलम पर भरोसा किया और उसी के बल पर जीता रहा। उसने अपना अधिकांश समय प्रचलित राजनीतिक विचारधारा तथा कानून की आलोचनादृसमीक्षा करने में लगाया। उसने विपुल मात्रा में लेखन किया, किंतु उसके मन में प्रकाशन के प्रति सतत उदासीनता बनी रही। इसीलिए महत्त्वपूर्ण होने के बावजूद उसके विचारों को उसके जीवन में वह मान्यता नहीं मिल सकी, जिसका वह अधिकारी था। लेकिन उसके विचारों की मौलिकता और स्पष्टवदिता ने लोगों को प्रभावित किया और समय आने पर उसको व्यापक प्रतिष्ठा भी मिली। बैंथम को विद्वानों ने उसको नैतिक दर्शनशास्त्र का महान व्याख्याता स्वीकार किया। तथापि उसके विचार केवल सैद्धांतिक बहसों तक सीमित नहीं थे। तत्कालीन धार्मिकदृसामाजिक मान्यताओं के विरुद्ध उसने सुख की कामना को मनुष्य के नैतिक कर्तव्यों में शुमार किया। इसपर धार्मिक आडंबरवादी उसके पीछे पड़ गए। अपने विचारों के लिए बैंथम को जोरदार आलोचना का सामना करना पड़ा। बिना घबराए वह डटा रहा। धीरे-धीरे लोगों पर उसके विचारों का असर पड़ने लगा। आज दुनिया-भर के अनेक विद्वान, शोधार्थी उसके आर्थिक सिद्धांतों के विश्लेषण में लगे हुए हैं। यदि किसी विद्वान के विचारों की प्रासंगिकता शताब्दियों बाद भी बनी रहे तो मानना चाहिए कि वह अद्वितीय था, यह निःसंदेह उसकी महानता का प्रतीक है। उसने विद्वानों की पीढ़ियों को न केवल प्रभावित किया, बल्कि उनकी कई पीढ़ियां भी तैयार की हैं। बैंथम की विलक्षणता का भी कोई ठिकाना नहीं। वह मरा तो दसियों हजार पृष्ठों की हस्तलिखित सामग्री छोड़कर, जिसमें उसकी महत्त्वपूर्ण विवेचनाएं, दर्शन-चिंतन और ज्ञान भरा हुआ था।

जैरेमी बैंथम नाम के उस महान विचारक और दार्शनिक का जन्म 15, फरवरी सन 1748 को लंदन के हाऊंडिच नामक स्थान पर हुआ था। पश्चिमी देशों के इतिहास में वह समय बहुत ही क्रांतिकारी था। अठारहवीं शताब्दी के

मध्याह्न में, उन दिनों जब पूरे यूरोप में वैचारिक क्रांति का माहौल था। पूरा समाज परिवर्तन के दौर से गुजर रहा था, जॉन लॉक, डेविड ह्यूम, रेने देकार्ते, रूसो, जोसेफ प्रस्टीले तथा एडम स्मिथ, लियोनार्दो दा विंसी जैसे विद्वानों की मेधा से पूरा-पूरा यूरोप आभा-मंडित था। तकनीकी क्रांति और तज्जनित औद्योगिक विकास के कारण समाज में मध्यवर्ग का उदय उस जमाने की एक महत्त्वपूर्ण घटना थी, जिसने समाज में आर्थिक विषमता की खाई को और भी चौड़ा किया था। औद्योगिकीकरण के कारण समाज में व्यापक बदलाव आए थे। उसने एक और तो शिल्पकारों को परंपरागत आधार पर वर्षों से समाज की सेवा करते आए थे, बेघर-बेरोजगार बनाने जैसा धतकर्म किया था। दूसरी ओर उसने समाज में एक ऐसे वर्ग को भी जन्म दिया था, जो अपने बुद्धि-सामर्थ्य उपयोग करते हुए तेजी से अपनी पहचान बनाने को उन्मुख था। वह पूंजीपतियों और आमजनता के बीच एक कड़ी था। उस मध्यवर्ग की आंखों में सपने थे। मध्यवर्गियों का एक अंश पूंजीपति संस्थानों के समर्थन में लगे रहकर उनका अधिक से अधिक लाभ उठा लेना चाहता था, जबकि उनका दूसरा हिस्सा कतिपय बुद्धिजीवियों एवं आंदोलनकारियों का था, जिन्हें वैचारिक क्रांति की हवा ने पहली बार आत्मनिर्णय एवं अभिव्यक्ति का अवसर दिया था। वही वर्ग व्यवस्था में बदलाव की आकांक्षा के साथ एकजुट होकर आंदोलनरत था। बैंथम के पिता ब्रिटिश संसद के सदस्य थे। अपनी प्रारंभिक शिक्षा उसने इंग्लैंड के वेस्टमिनिस्टर स्कूल से की। बाल्यावस्था में ही पिता को बेटे के मेधावी होने की झलक उस समय देखने को मिली जब उन्होंने बालक बैंथम को इंग्लैंड के इतिहास के भारी-भारी ग्रंथों में डूबे हुए देखा। मात्र तीन वर्ष की अवस्था में बैंथम की शिक्षा आरंभ हो गई। बारह वर्ष की अवस्था में उसको आगे की शिक्षा के लिए ऑक्सफोर्ड विश्वविद्यालय भेज दिया गया, जहां से उसने 1763 ईस्वी में विधि-स्नातक एवं 1766 ईस्वी में उसने परास्नातक की उपाधि प्राप्त की। 1772 ईस्वी में बैंथम को उच्च न्यायालय में वकालत करने का निमंत्रण मिला। बैंथम उस अवसर का लाभ उठाने के लिए पहुँच गया। लेकिन तभी एक घटना ऐसी हो गई, जिसने बैंथम को न्यायालय में पलने वाले भ्रष्टाचार से परिचित करा दिया। हुआ यह था कि बैंथम को उच्च न्यायाधीश की ओर से एक निमंत्रण प्राप्त हुआ। बैंथम मिलने पहुँचा तो उसने अनेक प्रकार की अड़चनों से गुजरना पड़ा, जिसका तरुण बैंथम पर बहुत अनुचित प्रभाव पड़ा। उसने इंग्लैंड के न्यायिक तंत्र से नफरत हो गई। उसी के पश्चात बैंथम ने भविष्य में कभी वकालत न करने की प्रतिज्ञा

ले ली तथा अपने जीवन के शेष वर्ष उसने केवल अध्ययन और लेखन के सहारे बिताने का निश्चय किया। बैंथम के लंबे जीवन का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण मोड़ उस समय आया, जब वे जेम्स मिल से मिलने के लिए पहुँचा। उससे मिलकर बैंथम उससे बहुत प्रभावित हुआ। मिल से घंटों बतियाने उसने उसने समाजवाद, स्त्री समानता, चर्च तथा राज्य के प्रथक्कीकरण, तलाक, मुक्त व्यापार, गुलामी प्रथा के उन्मूलन आदि खासमखास मुद्दों पर अपने विचार रखे। विचारों की नवीनता एवं मौलिकता के कारण समाज में उसे पर्याप्त ख्याति मिली। हालांकि अपने जीवन में बैंथम को पर्याप्त लोकप्रियता हासिल नहीं हो सकी, तथापि यह भी सच है कि हमेशा कागजदृकलम के साथ जीने वाले जैरेमी बैंथम नामक उस अनोखे प्रतिभावान शख्स ने, शब्दों और विचारों की दुनिया के अलावा किसी और संसार की कभी कामना ही नहीं की थी। जबकि उसके बाद के विद्वानों में से एकाध को छोड़कर सभी ने भौतिक सुखों को जीवन का ध्येय मानते हुए अपनी विचारणा को उसी पर केंद्रित रखा। मृत्यु के करीब पौने दो सौ वर्ष पश्चात भी बैंथम के कार्य का विधिवत विश्लेषण-मूल्यांकन नहीं हो पाने का एक खासमखास कारण यह भी है। इसके बावजूद बैंथम के विचारों को जितनी मान्यता एवं प्रतिष्ठा प्राप्त हो सकी उसके पीछे, उसके समर्थक विद्वान जॉन स्टुअर्ट मिल तथा उसके सहयोगियों मानवेतिहास में अपना नाम लिखा चुके हैं। उन्हीं के कारण यह संभव हो पाया है। ध्यातव्य है कि जान स्टुअर्ट मिल, जॉन आघस्टिन आदि ने बैंथम को अपना गुरु मानते हुए उसके चिंतन एवं दार्शनिक-साहित्यिक स्थापनाओं की नए सिरे से व्याख्या की है। यहां तक कि बैंथम को मान-सम्मान दिलाने के पीछे भी उन दोनों स्पष्ट भूमिका रही है। बैंथम की मां धार्मिक विचारों की महिला थीं और पिता अपना काम दिमाग से संभालते थे। इस प्रकार बैंथम का पिता के तर्कों और मां के भक्तिभाव से भरे वातावरण में बीता। उसने अपनी पढ़ाई लैटिन से प्रारंभ की। जिन दिनों बैंथम का जन्म हुआ, उसके परिवार पर खुशहाली का साम्राज्य था। 1760 में बैंथम ने क्वीनस् कालिज, ऑक्सफोर्ड में प्रवेश लिया। वहां से 1763 में स्नातक की परीक्षा उत्तीर्ण करने के पश्चात उसने आगे कानून की पढ़ाई के लिए लिंकन-इन विश्वविद्यालय में प्रवेश प्राप्त कर लिया। अध्ययनकाल से ही बैंथम की प्रतिभा का प्रस्फुटन होने लगा था। उसी दौरान उसने पत्र-पत्रिकाओं में कई लेख लिखे, जिन्होंने विद्वानों का ध्यान अपनी ओर खींचा। सन 1766 में कानून की स्नातक की डिग्री प्राप्त करने के बाद बैंथम ने लिखना-पढ़ना प्रारंभ कर दिया। लेखन कार्य को

आगे बढाने के लिए बैंथम ने कभी किसी की परवाह न की। उसपर लेखन का जैसे जूनून सवार रहता था। करीब दस-बारह घंटे रोज नियमित रूप से लिखना और पढ़ना। उसने विपुल मात्रा में लिखा, महत्त्वपूर्ण लिखा, बावजूद इसके यह भी सचाई है कि उसने अपने लिखे को प्रकाशित कराने पर बहुत कम ध्यान दिया। उसके द्वारा लिखे गए कागजों का ढेर लगता गया। उसकी कृतियां मृत्यु के पश्चात ही प्रकाशित हो सकीं। बैंथम को जो सम्मान आज प्राप्त है वह जेम्स मिल जैसे मित्र और जॉन स्टुअर्ट मिल जैसे उसके शिष्यों के कारण ही संभव हो सका है। बैंथम की विश्लेषण क्षमता बेजोड़ थी। उसका अधिकांश कार्य कानून और राजनीति के विवेचना के क्षेत्र से जुड़ा हुआ है। जिसमें उसमें मनुष्य के कल्याण के राज्य और कानून को अधिकतम नैतिक बनाने के लिए अनेक सुझाव दिए हैं। उसकी निर्णय लेने की शक्ति का भी अपने समय में कोई मुकाबला नहीं है। सन 1781 के बाद वह और अर्ल मिलकर काम करने लगे। इसी बीच उनका संपर्क कई समकालीन विद्वानों तथा दार्शनिकों से हुआ। सन् 1785 में वह रूस चला गया जहां उसका भाई काम करता था। वहां उसने अपने लेखन संबंधी कार्य को और अधिक तत्परता से करना प्रारंभ कर दिया। रूस में उसने अपने कुछ साथियों के साथ कारागार का अध्ययन करना प्रारंभ कर दिया। उसका मानना था कि कैदियों को खुले स्थान पर रखा जाए। उनपर अदृश्य पहरा बैठाया जाए। प्रकट रूप में वे अपने ही अनुशासन में हों जिससे उन्हें आत्मवलोकन का अवसर मिल सके। इससे वे अपने कार्य के अच्छे-बुरे पर विचार कर सकेंगे। बैंथम के इस प्रयास की लोगों ने हंसी भी उड़ाई थी। कुछ ने उसको सनकी कहा तो कुछ ने पागल बताया। तो भी आलोचनाओं से प्रभावित हुए बगैर वह निरंतर अपना कार्य करता रहा। 1788 में वह वापस इंग्लैड लौट आया और स्वयं को पूरी तरह अध्ययन और लेखन में डुबो दिया। उसने लंदन विश्वविद्यालय की स्थापना में अग्रणी भूमिका का निर्वाह किया। 1826 में जब लंदन विश्वविद्यालय कॉलेज, की स्थापना हुई उस समय वह 78 वर्ष का वृद्ध हो चुका था। उससे पहले जॉन स्टुअर्ट मिल के साथ मिलकर 1823 में वह साप्ताहिक 'दि वेस्टमिनिस्टिन रिव्यू' की शुरुआत कर चुका था। इस साप्ताहिक ने इंग्लैंड और फ्रांस के वौद्धिक हलकों में अपनी विशिष्ट पहचान स्थापित करने में कामयाबी प्राप्त की थी। बैंथम की तुलना विलियम गुडविन से की जाती है। दोनों को परस्पर पूरक माना जाता है। दोनों ने अहिंसक सामाजिक क्रांति पर जोर दिया। लेकिन दोनों की कार्यपद्धति में अंतर था। बैंथम ने क्रांति के लिए

वैधानिक सुधारों पर जोर दिया है तो गुडविन तर्क के आधार पर क्रांति के औचित्य को सिद्ध करना चाहता था। अपनी सन 1776 में प्रकाशित पुस्तक 'सरकार की रहस्यनीति पर कुछ विचार' में बैंथम ने ब्लैकस्टोन की पुस्तक 'कॉमेंट्रीस ऑन लॉ ऑफ इंग्लैंड' की प्राकृतिक अधिकार की अवधारणा संबंधी समर्थन-नीति की आलोचना की है। मगर बैंथम की सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण पुस्तक जिसने उसको मौलिक विचारकों की श्रेणी में लाकर खड़ा कर दिया है, 1780 में प्रकाशित होने वाली उसकी पुस्तक 'नैतिकता एवं विधान के सिद्धांत: एक परिचय' थी, जिसने उसको सहसा प्रसिद्धि के शिखर पर पहुँचा दिया। इस पुस्तक में उसने प्राणिमात्र को सुख पहुँचाना मानव जीवन का नैतिक उद्देश्य माना है। पुस्तक में बैंथम लिखता है कि– 'प्रकृति ने मनुष्यता को दो स्वयंभू स्वामियों के नियंत्रण में सौंपा हुआ है। ये हैं– पीड़ा और आनंद। यह हमारे ऊपर है कि हम इन दोनों में से किसका चयन करते है, या हमें इनमें से किसका चयन करना चाहिए। हमारे एक ओर सही और गलत के मानक हैं, तो दूसरी ओर कारणों और कारकों को परस्पर जकड़े हुए एक लंबी शृंखला है। वे हमारे प्रत्येक कार्य पर, हमारे कहन पर, हमारे सोच-विचार पर, यहां तक कि इस अधीनता को उखाड़ फेंकने के लिए हम जो भी प्रयास करते हैं, उनपर भी नियंत्रण रखे हुए हैं। हमारे कार्य और आचरण इसी को और पुख्ता तथा ताकतवर बनाते हैं।'

बैंथम ने नैतिकता को सुख के साथ जोड़ा गया है। इसी पुस्तक में बैंथम के चिंतन का मूल सिद्धांत 'अधिकतम लोगों के लिए अधिकतम सुख' लोगों के सामने आया जिसने बैंथम को सुखवादी विचारकों में अग्रणी बना दिया। उसने अपने लेखन द्वारा सभी प्रकार के अतिवादियों का विरोध किया है। जीवन के अंतिम वर्षों में उसने लंदन विश्वविद्यालय की स्थापना की। सन् 1832 में ही राजनीतिक सुधार की कामना को लेकर दो बिल संसद में प्रस्तुत किए गए थे। जिनपर बैंथम के चिंतन की छाप थी। 1832 में 6 जून को बैंथम का निधन हो गया। मृत्यु के समय उसने लगभग पचास लाख शब्दों की लिखित पांडुलिपियां छोड़ी थीं। बैंथम की अंतिम इच्छा का सम्मान करते हुए उसकी देह को लकड़ी के एक ताबूत में लंदन विश्वविद्यालय में सुरक्षित रखा गया है। जिस समय बैंथम के शरीर को संरक्षित करने का काम चल रहा था, उसका सिर बुरी तरह क्षत-विक्षत हो गया था। उसके स्थान पर विशेष रूप से निर्मित प्लास्टिक से बने सिर के साथ उसकी देह को परिषद की बैठक या अन्य महत्त्वपूर्ण अवसरों पर प्रदर्शन के लिए बाहर लाया जाता है। बैठक में बैंथम की प्रतीकात्मक उपस्थिति

मानी जाती है, जो, 'मौजूद है मगर मतदान में हिस्सा नहीं लेता।' कुछ दिनों तक कृत्रिम सिर के साथ-साथ असली सिर को भी प्रदर्शन के लिए लाया जाता रहा। लेकिन विद्यार्थियों की लगातार छेड़छाड़ के कारण बाद में उसको वहां से हटाकर सुरक्षित स्थान पर रख दिया गया। विचारधारा बैंथम पर वाल्तेयर, डेविड ह्यूम, डिडोराट, हेलिवियस के अतिरिक्त जॉन लॉक, जेम्स मिल तथा रूसो के विचारों का भी प्रभाव पड़ा था। वह पहला संभवत: सबसे बड़ा तत्त्ववादी दार्शनिक था, जिसका मानना था कि मनुष्य का पहला लक्ष्य सुख प्राप्त करना है और सुख की कामना करना कहीं भी अनैतिक व्यवहार नहीं हैं। बैंथम के इस विचार की गइराई के लिए हम प्राचीन दर्शन-परंपरा को देख सकते हैं। भारत समेत दुनिया के अधिकांश देशों की परंपरा में त्याग और बलिदान को श्रेष्ठ मानवीय मूल्यों में सम्मिलित किया गया है। प्राचीन यूनान में पाइथागोरेस के अनुयायी मोक्ष की कामना में शरीर को कष्ट देते रहते थे। आज भी भारत में नाथ संप्रदाय की कुछ प्रवृत्तियां ऐसी हैं, जो सुख के निषेध पर जोर देती हैं। त्याग और तपश्चर्य उनकी दृष्टि में मुक्ति के प्रथम सोपान हैं। ईसाई धर्म भी त्याग और संयम को जीवन मोक्ष की अनिवार्यता मानता है। आलोचना की परवाह न करते हुए बैंथम ने सुख को मानव जीवन का लक्ष्य मानते हुए उसको मनुष्य के प्राथमिक कर्तव्यों में शामिल करने की अनुशंसा की थी। उसके सुखवाद के विचार को आगे चलकर जॉन स्टुअर्ट मिल ने विस्तार दिया। सुखवाद की अवधारणा के अनुसार किसी भी कार्य का औचित्य इस तथ्य से आंका जा सकता है कि वह कितने व्यक्तियों को अधिक से अधिक कितना सुख प्रदान कर सकता है। उसका विचार था कि मनुष्य प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष दोनों ही स्तर पर सुख की कामना करते हुए दु:ख के प्रभाव से बचना चाहता है। इसलिए नैतिक कर्तव्य वही है जो अधिक-से-अधिक लोगों को अधिकतम सुखी बना सके, उनकी आकांक्षाओं का मूर्तिकरण कर सके और उनकी कामनाओं को तृप्ति प्रदान कर सके। बैंथम ने कानून को मानवीय एवं सुलभ बनाने पर भी जोर दिया है। उसका मानना था कि कानून को लिंग एवं हैसियत से परे रहकर समतावादी आचरण करना चाहिए। वह कानून को बल एवं प्रतिष्ठा का प्रतीक बनाने के बजाए उसके मानवीय पक्ष को उभारने के प्रति आग्रहशील था। उसने स्वतंत्रता को व्यापक संदर्भों में देखा है। यहां तक कि उसने समलिंगी कामसंबंधों को भी अनुमेय बनाने पर जोर दिया है। अपने लेख Offences against One's Self: Paederasty में बैंथम समलिंगी काम संबंधों की ऐतिहासिकता की ओर इशारा

करते हुए उन्हें कानूनी मान्यता दिए जाने की मांग की थी। हालांकि बैंथम के जीवनकाल में विरोध की संभावना को देखते हुए कोई भी व्यक्ति इस लेख को छापने के लिए तैयार नहीं हुआ था। पहली बार यह लेख 1978 में 'जनरल ऑफ होमोसेक्युअल्टी' में प्रकाशित हो सका। बैंथम जीवन में नैतिकता एवं उच्चतम मानवीय मूल्यों के प्रति बहुत समर्पित था। उसकी संवेदनशीलता केवल मनुष्यों तक ही सीमित नहीं थी। उसने पशुओं के प्रति करुणा दर्शाने का विचार रखा। उसको पशुओं के अधिकारों के सबसे पहले समर्थकों में से माना जाता है। प्राणियों के प्रति दया एवं करुणा की मांग करते हुए उसने तर्क दिया था कि प्रताड़ित किए जाने पर उन्हें भी उसी दर्द की अनुभूति होती है, जैसी कि हम मनुष्यों को। उसने जोर देकर कहा कि–

'एक ऐसा दिन भी आ सकता है जब दुनिया के सारे पशु जमा होकर अपने अधिकारों की मांग करेंगे, जो आगे फिर कभी पद या कानून के दुरुपयोग, बलप्रयोग द्वारा उनसे वापस नहीं लिए जा सकेंगे।'

बैंथम का कहना था कि दूसरों को होने वाली परेशानी न कि उसके कारण, ही उनके प्रति हमारे व्यवहार को तय करने का मानदंड होना चाहिए। यदि केवल वस्तुनिष्ठता ही हमारे फैसलों के मापदंड बनी तो कमजोर प्राणियों यहां तक कि विकलांग और मासूम बच्चों के साथ भी, निर्जीव वस्तुओं की भांति आचरण किया जाने लगेगा। सभी के प्रति समता भरा आचरण, यहां तक कि पशुओं के प्रति भी करुणाशील होना जनसामान्य की आकांक्षाओं के बहुत अनुकूल पड़ता है। बैंथम ने अर्थशास्त्रीय गवेषणाओं को लेकर अलग से तो कोई पुस्तक नहीं लिखी। लेकिन वह अपने समय में अर्थशास्त्र के क्षेत्र में हो रहे कार्य के प्रति चौतन्य था। एडम स्मिथ की चर्चित कृति 'वैल्थ आफ्फ नेशनस्' का प्रकाशन बैंथम के जीवनकाल में हो चुका था। उसका मानना था कि पूंजी का उपयोग इस तरह किया जाना चाहिए कि वह ज्यादा से ज्यादा लोगों को रोजगार देकर उनकी सुखवृद्धि में सहायक बन सके। सरकार के कर्तव्यों की व्याख्या करते हुए उसने लिखा कि–

'सरकार का कर्तव्य दंड और पुरस्कार की व्यवस्था के सहारे समाज के सुख में निरंतर वृद्धि करते रहना है।'

ध्यान रहे कि बैंथम की सुख की अवधारणा केवल भोग तक सीमित नहीं थी, न वह सुख को विशिष्ट वर्गों तक सीमित रखना चाहता था। सुख को नैतिक कर्तव्य मानते हुए वह उसकी सबके लिए उपलब्धता चाहता था। मनुष्य की यह

स्वाभाविक कमजोरी होती है कि वह उन सभी चीजों को अपनी प्रस्तावित योजनाओं में समेट लेना चाहता है, जिन्हें वह अपनी सुख-समृद्धि और बेहतर भविष्य के लिए अनिवार्य मानता है। मनुष्य की सुख की वांछा उसकी सामाजिक स्थिति से नियंत्रित होती है। लेकिन भूख पर वैसा कोई अनुशासन लागू नहीं होता। वह सबसे पहले नैतिकता को ही दबोचती है। इसलिए नैतिक बने रहने के लिए भूख से दो-चार होना मानवजीवन की कड़वी सचाई है। अपने उपयोगिता के सिद्धांत के माध्यम से बैंथम ने स्पष्ट करने की कोशिश की है कि–

'उपयोगिता से वह सिद्धांत अभिप्रेत है जो किसी कार्य को इस आधार पर स्वीकार अथवा अस्वीकार करता है, कि उसके माध्यम से परिवीक्षाधीन व्यक्ति की प्रसन्नता में कितनी वृद्धि अथवा कमी हुई है। दूसरे शब्दों में वह मनुष्य के सुख में कितना विकास अथवा ह्रास लाता है।'

बैंथम का कहना था कि किसी वस्तु का उपयोगी होना ही उसका श्रेष्ठ होना है। उपयोग का आशय किसी वस्तु आदि की प्राप्ति पर मिलने वाले सुख से है। दूसरे शब्दों में श्रेष्ठ कार्य वह है जो अधिकतम व्यक्तियों के लिए अधिकतम सुख का सृजन करता हो, इस संबंध में बैंथम ने सूत्रवाक्य दिया था– अधिकतम लोगों के लिए अधिकतम सुख, जो चलकर सुखवादी विचारकों के लिए मूलमंत्र बना। इसी सिद्धांत के आधार पर बैंथम ने नैतिकता को परिभाषित करने का प्रयास किया है। बैंथम के अनुसार–'नैतिकता का अभिप्राय उस कला से है जो मनुष्य की गतिविधियों को इस प्रकार निर्देशित करती है, ताकि उससे अधिक-से-अधिक मात्रा में सुख की व्युत्पत्ति हो सके।' बहुमुखी प्रतिभा के धनी बैंथम ने अपना पूरा जीवन लेखन को समर्पित कर दिया था। उसने बेशुमार साहित्य लिखा, जिसकी मौलिकता असंद्धिग्ध है। उसने न केवल कानूनी तथा सामाजिक सुधारों का समर्थन किया, बल्कि निरंतर एक समर्थ एवं कर्मठ कार्यकर्ता की भांति उसके प्रसार में लगा रहा, भले ही उसे अपने समय में वह मान-सम्मान एवं प्रतिष्ठा नहीं मिल सकी जिसका कि वह अधिकारी था। और बाद के वर्षों में भी उसके विचारों में मौलिकता के अभाव का आरोप विद्वत समाज द्वारा लगाया जाता रहा। तथापि उसकी उपयोगिता एवं प्रभाव से इंकार नहीं किया जा सकता। अगर तात्कालिक समय के अनुसार बैंथम का आकलन करें तो उसको निर्विवाद उसको एक क्रांतिकारी विचारक पाते हैं। उस समय तक समाज पर सामंतवादी संस्कार हावी थे तथा यह माना जाता था कि समाज किसी

भी व्यक्ति से ऊपर है, बैंथम ने सभी के कल्याण एवं सुख की कामना को दर्शन के क्षेत्र में लाकर उसको अमूर्तन से मूर्त बनाने का कार्य किया। धार्मिक और नैतिकतावादियों की परवाह किए बगैर उसने जोर देकर कहा कि सुख प्राप्त करना प्रत्येक मनुष्य का नैसर्गिक अधिकार है और समाज के प्रत्येक व्यक्ति का कर्तव्य यह है कि वह अपने कर्तव्यों का निर्धारण दूसरे व्यक्ति के सुख को आधार मानकर करे। बैंथम ने माना–

'चार अलग-अलग स्रोत हैं जहां से सुख और दु:ख की सतत आवृत्ति होती है। इन स्रोतों को भौतिक, राजनीतिक, धर्मिक एवं नैतिक वर्ग में बांटा जा सकता है। बावजूद इसके सुख एवं दु:ख (प्रसन्नता एवं कष्ट) दो ऐसे प्रमुख कारक हैं, जो इन चारों ही से संबंधित हैं तथा किसी भी नियम को प्रभावित करने का पूरा-पूरा सामर्थ्य रखते हैं।'

बैंथम ने स्वयं स्वीकार किया है कि उसका सुखवाद का सिद्धांत पूरी तरह मौलिक नहीं था। इस संबंध में वह जोसेफ प्रस्टीले जो सुप्रसिद्ध वैज्ञानिक और दार्शनिक था, से प्रभावित था। सुखवाद का मूल विचार वस्तुत: इटली के दार्शनिक, विद्वान केसर मार्किव्स ऑफ बकारिया का था। इस संबंध में बैंथम ने स्वयं भी लिखा है कि–

'प्रस्टीले वह पहला इंसान था जिसने मेरे होठों को इस पवित्र शब्द को पुकारना सिखाया– कि अधिकतम मनुष्यों का अधिकतम सुख ही न्याय एवं नैतिकता की सच्ची आधारशिला है।'

मुद्रा से संबंधित बैंथम के विचार अपने समय के अर्थशास्त्रियों से काफी अलग थे। सुख और उपभोग को प्रधानता देने के बावजूद बैंथम मुद्रा के प्रसार की नीति का समर्थक था। उसका मानना था कि इससे रोजगार के अवसरों में इजाफा होगा। वह बचत को भी आवश्यक मानता था तथा बचत तथा निवेश के अंर्तसंबंध की जानकारी भी उसको थी। इस संबंध में अपने विचारों का विस्तृत विवेचन उसने अपने निबंधों एवं पुस्तकों में किया है। स्पीगेल के अनुसार बैंथम ने लिखा है कि–

'आनंद एवं पीड़ा का स्तरीकरण: उनकी मूल्यवत्ता या विस्तार माने उनके आवेग, स्थायित्व, अवधि के आधार पर किया जा सकता है। उसका अभिप्राय आनंद अथवा पीड़ा की अधिकता और न्यूनता से था, उसके अनुसार उपभोक्ता आर्थिकी को आगे बढ़ाने लिए तथा कल्याण अर्थशास्त्र के विचार को नया स्वरूप देने के लिए यही दोनों जिम्मेदार हैं।'

बैंथम के चिंतन की महानता इससे भी जाहिर होती है कि आज से दो शताब्दी से भी पहले उसने स्त्री स्वतंत्रता एवं बच्चों के अधिकार के पक्ष में आवाज उठाई थी। स्त्री आधिकारिता का पक्ष लेते हुए उसने तलाक एवं पुनर्विवाह का समर्थन किया है। वह दासता की समाप्ति के भी पक्ष में था तथा व्यापार को मुक्त करने का हामी। यहां तक कि उस समय जब लोकतंत्र का पर्याप्त विस्तार नहीं हो पाया था। बैंथम का समलैंगिकता के समर्थन में उतर आना हैरान कर देता है। बैंथम के अन्य कार्यों में कैदियों को अधिक आजादी तथा जेल में उनके साथ किए जाने वाले व्यवहार के मानवीय पहलुओं को लेकर है। उसका मानना था कि कैदियों को खुले स्थान में रखा जाए तथा उनपर अदृश्य नजर रखी जानी चाहिए, ताकि उन्हें अपने कार्यों पर जिसके लिए वे सजा पा रहे हैं एकांत में विचार करने का अवसर मिल सके। उसका मानना था कि–

'समाज का गठन अच्छाई की उम्मीद की वजह से न होकर, बुराई के आतंक के कारण हुआ है।'

शिक्षा को लेकर बैंथम के विचार भी आधुनिक विचारधारा से मेल खाते हैं। उसका मानना था कि शिक्षा की व्यावहारिक हो तथा उसकी उपलब्धता आमजन तक होनी चाहिए। भले ही उनकी धार्मिक मान्यता कुछ भी हो। सन 1826 में जब लंदन विश्वविद्यालय की स्थापना हुई, उसकी आयु 78 वर्ष थी। बैंथम के प्रभाव के कारण ही लंदन विश्वविद्यालय विश्व का पहला ऐसा संस्थान बना जहां प्रवेश पाने के लिए विद्यार्थी के धर्म, जाति अथवा राजनीतिक विचारधारा का कोई महत्त्व न था। बैंथम का सुखवाद कोरे भौतिक सुखों तक सीमित नहीं था। बल्कि उसके सुख की परिभाषा में समस्त मानवता समाहित थी। ध्यान रहे कि बैंथम के विचार ऐसे समय में आए जब चर्च समेत समस्त धार्मिक संस्थान सांसारिक सुखों की उपेक्षा का दिखावा करते हुए जनता को पारलौकिक सुखों के प्रलोभन के आधार पर लूट रहे थे। अज्ञान और अशिक्षा में डूबे लोग उन्हीं के इशारे पर एक पलायनवादी जीवन जीते आ रहे थे। ऐसे ही लोगों को मुख्य धारा में लाने के लिए बैंथम ने शिक्षा और समानता पर जोर दिया। समाज में व्याप्त असंतोष को देखते हुए उसने कहा कि–

'सामन्जस्य की भावना मनुष्य का दुर्लभ गुण है।'

हालांकि बैंथम के उपयोगितावाद की काफी आलोचना भी हुई। अपने जीवनकाल में बैंथम को पर्याप्त महत्त्व नहीं मिल पाया। बैंथम की मृत्यु के पश्चात उसके शिष्य जॉन स्टुअर्ट मिल ने उसके सुखवाद को नए सिरे से

परिभाषित किया। परिणामत: बैंथम के विचारों को भी स्वीकार्यता मिली। बैंथम के बारे में मिल ने अपने एक आलेख 'बैंथम' में लिखा है कि–

'किसी भी कसौटी अथवा मूल्यांकन के माध्यम से, यदि हमने अपना कार्य पूरी ईमानदारी एवं न्यायभावना के साथ किया है, तो हम निर्विवाद रूप से पाएंगे कि बैंथम का स्थान दुनिया के महानतम बुद्धिजीवियों एवं उद्धारकों में सर्वथा सुरक्षित है। उसका लेखन विश्व के श्रेष्ठतम व्यावहारिक चितकों की शिक्षा एवं सोच का बेहतरीन और अविभाज्य हिस्सा है। अत: हमें उसके विचारों का एक संग्रह प्रत्येक व्यक्ति तक पहुँचाना चाहिए। ताकि वह उसके समय को जान सके अथवा उसके लाभकारी हिस्से को किसी भी रूप में अपने काम में ला सके।'

निश्चित रूप से आधुनिक विचारकों में बैंथम का स्थान बहुत ऊंचा है। उसके प्रभावस्वरूप जीवन के प्रति व्यावहारिक दृष्टिकोण अपनाने का चलन शुरू हुआ। राबर्ट ओवेन, जेम्स मिल आदि विचारकों ने बैंथम के विचारों से प्रेरणा लेकर अपने सिद्धांत गढ़े जिससे एक नई विचारधारा का प्रादुर्भाव हुआ और मानवीय चिंतन को ऐसी दिशा मिली जो कल्याण का बहुस्तरीय बंटवारा करने की पक्षधर थी।

❐❐❐